संयम बनाम भोग

महात्मा गान्धी

प्रकाशक

ज्ञान मन्दिर

बनारस कैंट

प्रथम बार] १९५१ [मूल्य २)

प्रकाशक

ज्ञान - मन्दिर

बनारस कैंट

मुद्रक

आधुनिक मुद्रण मंदिर

आदिविश्वेश्वर, बनारस

क्रम

प्रस्तावना

"यह संसार असार है," यह सोचते और जानते हुए भी हम अपने जीवन में विनाशकारी लीला करते ही चले जाते हैं। एक ओर 'संयम' और दूसरी ओर इसका प्रतिद्वन्द्वी 'भोग'। इन दोनों के बीच संसार का विरला ही खिलाड़ी जीत पाता; नहीं तो पराजय तो सबकी निश्चित ही होती है। 'संयम' का पुजारी संसार को अपने अनुभवों से कुछ दे जाता और भोगी व्यक्ति संसार की पूँजी को कम कर जाता है। आज का विशृंखल समाज और बावला-उतावला जगत— इसके बीच विचरनेवाला मनुष्य मनमानी करता चला जा रहा है। कोई बन्धन, कोई प्रतिबन्ध, कोई लगाम और कोई व्यवधान मालूम ही नहीं पड़ता। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—"परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" यही ताण्डव-नृत्य होता चला जा रहा है।

यदि समाज इसी प्रकार पतनोन्मुख रहा तो भविष्य की आशंकाओं से दिल काँपने लगता है। ज्ञात यह होता है कि प्रलय निकट ही है। जो जिसका जी चाहता है, वही करता है। दुष्कृत्यों के लिये इतना ही बस है—कि आड़ में हो रहे हैं; लज्जा छूटती-सी जान पड़ रही है। बहुतेरे पुरुष और अधिकांश नवयुवतियाँ फैशन का शिकार बनतीं और समाज को पंगु बनाती जा रही हैं। माता-पिता असमय ही कुल-वधू को घर में देखना चाहते हैं। विधवायें इसके फलस्वरूप अधिक ही होती जा रही हैं—जहाँ यह बाल-विवाह समाज का कोढ़ बना है, वहाँ ही बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह एवं प्रेम-विवाह अपना जाल अलग से बिछाये हुए हैं। हमारा विद्यार्थी और पढ़ा-लिखा समाज प्रायः अपनी

दुनिया में अप्राकृतिक दुष्कर्मों का शिकार बना हुआ है। नवयुवतियों का प्रेम-पाश अलग ही सुरसा बना संसार को निगले जा रहा है।

इस प्रकार का अस्त-व्यस्त समाज रोग, कलह, ईर्ष्या, अनेकता आदि अवगुणों की खान बन कराह रहा है। कोई ईश्वर को दोष देता, कोई प्रकृति को कोसता और कोई अपने भाग्य को ही जली-कटी सुनाता और दिल की जलन को शान्त करता है; किन्तु मूलकर्तव्य के निदान की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता है। मनुष्य-जाति की सृष्टि पुरुष-स्त्री के प्रेम-प्रणय का परिणाम है। इसमें जितनी ही स्वाभाविक पवित्रता रहेगी, उतना ही सन्तान-संसार बलिष्ठ और सदाचारी होगा, अपितु इसके विपरीत हर स्थान में संहारकारी दृश्य दिखलाई पड़ेंगे।

विवाहितों की दुर्व्यवस्था तो यह ठहरी और अविवाहितों का तो कहना ही क्या? वे लोग अपने को समाज के परे की एक स्वर्गिक वस्तु समझ बैठे हैं। उन्हें पता ही नहीं कि वे क्या रहे हैं। उनके कार्यों से ज्ञात होता है मानो समाज से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उन्हें ज्ञात होना चाहिये कि मनुष्य-मात्र का जो परस्पर का सम्बन्ध है उस स्वाभाविक निवेदक के वे अपवाद नहीं हैं। उन्हें समाज भले ही क्षमा कर दे, किन्तु पूज्य बापू के शब्दों में—"प्रकृति के न्यायालय को वे धोखा नहीं दे सकते सारा संसार इस बात का साक्षी है। हमें पिछली बातों को भूल कर भविष्य पर ध्यान देना है। गलतियों का पछतावा काम नहीं देगा उन्हें विस्मृत करके शुद्ध और स्वस्थ मन से भगवद्चिन्तन ही कार्य कर सकेगा।

'संयम बनाम भोग'—बड़ा ही आकर्षणकारी शब्द-युग है पूज्य महात्मा गांधी के कटु अनुभवों की समीक्षा ही प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। इसमें यह दिखलाया गया है कि मनुष्य को सच्चा सुख सच्ची शान्ति एवं भावनाओं की मनोहर तृप्ति संयम और ब्रह्मचर्य द्वारा

ही सुलभ हो सकती है। इसके विपरीत भोग का क्षणिक आनन्द सर्वदा के लिये दुःखदायी बनता है। वह नरक का द्वार खोल देता है। और इसी संसार में ही "इस हाथ दे, उस हाथ ले" की कहावत चरितार्थ करता दिखलाई पड़ता है। इस पुस्तक में संयम क्या है—इसके साधन—बाधायें आदि सुमनोहर वक्तव्यों द्वारा यह विवेचन समाज के सम्मुख रखा गया है। इसके साथ ही भोग के हर पहलू पर भी आधुनिक समस्याओं द्वारा प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक को आप महानुभावों तक पहुँचाने में मेरे परम प्रिय शिष्य श्री सूर्यदेव मिश्र 'विशारद' एवं श्री महेन्द्र सिंह 'विद्यार्थी' 'विशारद' का बहुत बड़ा हाथ है। ये लोग धन्यवाद के पात्र हैं। इन लोगों के विचारों, प्रतिलिपि-कार्यों एवं प्रूफ-संशोधन आदि कार्यों से ही यह पुस्तक इतने सुन्दर और सहज रूप में आप लोगों तक पहुँच रही है। यह सहयोग सराहनीय है।

हर मनुष्य इन बातों का मनन करे और निस्संकोच भाव से वह संयमी बने—भोग को तो केवल सन्तानोत्पत्ति का एक निमित्त मात्र समझे। इसी अनुभूत प्रयोग द्वारा महात्मा गांधी ने अनहोनी बात—'स्वराज्य' हमारे लिये उपस्थित किया—क्या ईश्वर की प्रत्येक सन्तान 'महात्मा' नहीं बन सकती है? यदि ऐसा हो जावे तो पूज्य बापू का 'राम-राज्य, वाला स्वप्न पूरा हो सकता है। संसार वास्तविक और सच्चे सुख का मनोरम स्थल बन सकता है। नहीं तो भोग तो संहार कर ही रहा है और भी भयंकर विनाशकारी लीला वह हमें दिखा सकता है। आज हम इसी के वशीभूत हो पशुओं की तरह अपना और पराया नहीं विवेक कर पा रहे हैं। पशुओं से भी नीचे के स्तर पर उतर कर अपनी काम-वासना की तृप्ति में तल्लीन दिखलाई पड़ रहे हैं।

इस पुस्तक ने यदि इस दिशा में कुछ लाभ पहुँचाया तो लेखक, अपना परिश्रम सफल समझेगा। होना यह चाहिए कि जो व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, युवा हो या युवती, बालक हो या बालिका

विद्यार्थियों का समुदाय हो अथवा विद्यार्थिनियों का—जो जिस जगह पर अपने जीवन का अंगड़-खंगड़ लेकर अकेला या जीवन-साथी के साथ अभियान के लिये खड़ा है, वह भोग की सुमनोहर अस्थायी, क्षणिक आनन्ददायिनी दिशा की ओर पीठ कर ले, उसके थपेड़ों को सह ले और वह संयम-मन्दिर का अनन्य पुजारी बनने के लिए अपने शरीर और मन को स्वस्थ बनावे, और एक सुखकर संसार की स्थापना करे जहाँ संयम का साम्राज्य हो, ब्रह्मचारी वहाँ के नागरिक और सैनिक हों, ऐसा राज्य संसार में स्थापित हो और राम-राज्य की कल्पना सार्थक हो। यह सब तभी होगा जब महात्मा गांधी की बतायी संयम की शिक्षा पूर्णतया अपनायी जावेगी। इस प्रकार की संयमित सन्तानों का समारोह देखकर पूज्य बापू की दिवंगत आत्मा को स्वर्ग में सुख और शान्ति मिलेगी। मेरी यही सदिच्छा है।

स्वतंत्र भारत की इस विजय-दशमी की पवित्र पावन पुण्य तिथि पर पाठकों को यह सदुपुस्तक भेंट करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है और यह अभिलाषा भी हो रही है कि पतित पावन राम की इस महत्वपूर्ण विजय के अवसर पर हम सब भी अपनी कुवासनाओं पर विजय पाकर संयम से रहना सीखें, यही राम का विजयोत्सव हमारे प्रथम जीवन की जीत की वर्षगाँठ बने और हम निरन्तर संयम की ओर अग्रसर होते जावें और राम की कृपा से अपने जीवन में पूर्णता प्राप्त करें। पूज्य बापू की सुकोमल भावनाओं को हृदयस्थ करके अपना मनोरथ सुफल करें और नीचे की पंक्तियों को कभी न भूलें:—

"रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम।
ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सनमति दे भगवान॥"

देव-कुटीर, मड़ियाहूँ, जौनपुर
क्वार, विजय दशमी, सं० २००७ वि०

—जगदेवसिंह 'देव'

संयम बनाम भोग

(१) संयम और इसकी आवश्यकता

"गीता के निम्न श्लोक की पूर्वार्द्धाली मानव-शरीर की नित्य-प्रति की क्रियाओं का एक सुन्दर और मनोरम दृश्य उपस्थित करती है—

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवा ।'

वास्तव में यह शरीर एक युद्धस्थल है। इसके रंगमंच पर प्रत्येक प्राणी प्रतिक्षण जाने अथवा अनजाने कोई-न-कोई अभिनय करता ही रहता है। जो व्यक्ति इस कार्य-प्रणाली में अपने को पूर्णसंयमी रखता है वही साफल्य प्राप्त करता है। इस विषय में महात्मा गांधी का प्रवचन सुनिये—

"संयम-विषयक-व्याख्या में सर्व-प्रथम 'ब्रह्मचर्य' ही का स्थान है। इस सम्बन्ध में 'नवजीवन' में मैं कितनी ही बार लिखता आया हूँ। इस विषय का भाषण तो सम्भवतः कभी ही कभी देता हूँ, क्योंकि यह विषय ऐसा है कि जो कह कर समझाया नहीं जा सकता। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—"समस्त इन्द्रियों का संयम।" शास्त्रकारों ने तो साधारण ब्रह्मचर्य को भी कठिन बताया है। यह ९९ प्रतिशत सत्य है; परन्तु एक फीसदी कमी है। इसका पालन इसलिये बड़ा कठिन हो जाता है कि हम

दूसरी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं कर पाते। इसमें 'जिह्वा' ही प्रधान है। जो व्यक्ति अपनी रसना को वश में रख सकता है, उसके लिये 'ब्रह्मचर्य' का पालन सुगम हो जाता है। प्राणी-शास्त्र-विशारदों का कहना है कि जिस सीमा तक पशु-वर्ग ब्रह्मचर्य का पालन करता है उस हद तक मनुष्य नहीं कर सकता। इसका कारण ज्ञात करने पर मालूम होगा कि पशु अपनी जीभ पर पूरा काबू रखते हैं। इच्छा से नहीं, वरन् स्वभावतः। जानवर केवल चारे पर ही अपना गुजर करते हैं। वे उतना ही खाते हैं जितने में उनका पेट भर जाता है। वास्तव में वे जीने के लिये खाते हैं, खाने के लिये नहीं जीते; परन्तु हम तो बिलकुल ही इसके उलटा काम करते हैं। माता अपने बालक को नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराती है। वह प्रेम-प्रदर्शन का मुख्य साधन इसे ही समझती है। वास्तव में स्वाद तो रहता है—'भूख' में। भूख के समय रूखी-सूखी रोटी भी मीठी लगती है और पेट भरा रहने पर अर्थात् भूख न रहने पर घी के लड्डू और पकवान भी फीके और बेस्वाद मालूम पड़ते हैं। हम खाने की बहुतेरी वस्तुओं से पेट को खूब ठूँस-ठूँस-कर भरते और गले तक बोराबन्दी कर लेते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता।

ईश्वर ने हमें देखने के लिये आँखें दी हैं। उनको हम मलिन बनाते हैं और देखने योग्य वस्तुओं को नहीं देखते। माता को गायत्री क्यों न पढ़नी चाहिये—और वह बच्चों को गायत्री क्यों न सिखावे? इस विवाद के पचड़े में पड़ने की अपेक्षा हम उसके तत्त्व—'सूर्योपासना'—को समझ कर, 'सूर्योपासना' करावें तो क्या ही अच्छा हो। यह उपासना तो सनातनी और आर्य्य-समाजी दोनों ही कर सकते हैं। यह तो मैंने आपके सामने एक स्थूल बात रखी है। इस उपासना का अर्थ क्या है—अपना सिर ऊँचा रखकर, सूर्यनारायण के दर्शनों से आँखों को शुद्ध और स्वस्थ करना। गायत्री के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने

देखा कि सूर्योदय में जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो अपार लीला है अन्यत्र कहीं नहीं देखी जा सकती। ईश्वर ऐसा सुन्दर सूत्रधार है जैसा और कहीं कोई नहीं मिल सकता। आकाश से बढ़कर भव्य रंग-भूमि और आँखों को देखने को कहीं नहीं मिल सकती; परन्तु आज कौन-सी माता बालक की आँखें धोकर उसे आकाश दर्शन कराती है? बड़े-बड़े घरों में जो शिक्षा मिलती है; परन्तु उसके फलस्वरूप तो लड़का कोई बड़ा अधिकारी बन जायेगा, किन्तु इस बात पर कौन विचार करता है कि माता के भावों में बहुत से प्रपंच भरे रहते हैं। जाने-बेजाने घरों में जो शिक्षा बालकों को मिलती है, उससे वे कितनी बातें सीख जाते हैं। माता-पिता हमारे शरीर को कपड़ों से ढँकते हैं, सजाते हैं; परन्तु इससे शोभा नहीं बढ़ती। कपड़े शरीर को ढँकते और सर्दी-गर्मी से उसकी रक्षा करने के लिये हैं, सजाने के लिये नहीं। सर्दी से ठिठुरते हुए बालक को जब हम अँगीठी के पास बैठा लेंगे, या मुहल्ले में कहीं खेलने-कूदने को भेज देंगे, तभी उसका शरीर बज्र की तरह दृढ़ होगा। ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का शरीर भी इसी प्रकार हृष्ट-पुष्ट रहता है। हम तो बच्चों के शरीर को नष्ट कर डालते हैं। हम उसे घरों में बन्द रखकर गरम कर देना चाहते हैं। इससे तो उसके चमड़ों में ऐसी गर्मी भर जाती है जिसे हम छाजन के नाम से पुकारते हैं। हमने शरीर को लाड़-प्यार से इस प्रकार खराब कर दिया है।

घर में तरह-तरह की बातें करके हम बालकों के मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। हम उनकी शादी की बातें करते हैं और इसी तरह की वस्तुएँ और अनेक दृश्य भी उन्हें दिखाते हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम जंगली ही क्यों न हो गये। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस प्रकार की है कि पतन के अनेक अवसर आने पर भी वह बच जाता है। उसकी लीला ऐसी गहन है—यदि हम ब्रह्मचर्य के मार्ग से यह सब विघ्न दूर कर दें तो उसका पालन बहुत सुगमता से हो जाय।

इस दशा में हम संसार के साथ शारीरिक मुकाबिला करना चाहते हैं। उसके दो मार्ग हैं—एक 'आसुरी' और दूसरा 'दैवी'। आसुरी-मार्ग है—शारीरिक बल प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के उपायों से काम लेना। मांस आदि वस्तुएँ खाना। मेरे बचपन में मेरा एक मित्र कहा करता—"कि हमें मांस अवश्य खाना चाहिये, अन्यथा हम अङ्गरेजों की तरह हट्ठे-कट्ठे और मजबूत न हो सकेंगे। जापान को भी जब आक्रमण के समय दूसरे देशों का सामना करना पड़ा तब वहाँ मांस खाने की प्रथा चल पड़ी। यदि आसुरी ढंग से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो तो इन चीजों का सेवन करना होगा; परन्तु यदि दैवी-साधनों से शरीर को तैयार करना हो तो उसका एकमात्र उपाय 'ब्रह्मचर्य' है। जब कोई मुझे नैष्टिक ब्रह्मचारी कह कर पुकारता है तब मुझे स्वयं अपने ऊपर दया आती है; परन्तु बाल-बच्चे वाला किस प्रकार इस कोटि में आ सकता है। नैष्टिक ब्रह्मचारी तो न कभी ज्वर से पीड़ित होता है, और न कभी उसके सिर में दर्द ही होता है। उसे न कभी खाँसी होती है और न कभी पेट के फोड़े की शिकायत। डाक्टर लोग कहते हैं कि नारङ्गी का बीज आँतों में रहने से भी पेट का फोड़ा हो जाता है; परन्तु शरीर स्वच्छ और निरोग होता है; उसमें यह बीज टिक ही नहीं सकते।

मैं चाहता हूँ कि मुझे नैष्टिक ब्रह्मचारी बता कर कोई मिथ्या-वादी न हों। नैष्टिक ब्रह्मचारी का तेज मुझसे कई गुना अधिक होना चाहिये। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं हूँ। हाँ, वैसा बनना मैं अवश्य चाहता हूँ। मैं तो यहाँ ब्रह्मचर्य की सीमा बताने वाले अपने अनुभव के कुछ कण पाठकों की जानकारी के लिये रख रहा हूँ।

ब्रह्मचारी रहने का यह मतलब नहीं है कि मैं किसी स्त्री को छू न सकूँ, या अपनी बहिन को स्पर्श न करूँ। परन्तु ब्रह्मचारी रहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी प्रकार का विकार

ऐसा न पैदा हो, जैसे कि काग़ज़ के छू लेने से नहीं होता। मेरी बहिन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण उसकी सेवा करने या उसे छूने में मुझे हिचकना पड़े, तो ऐसा ब्रह्मचर्य तीन कौड़ी का है। हम मुर्दा शरीर को छूकर निर्विकार दशा में रह सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप चाहते हैं कि बालक ऐसे ब्रह्मचारी बनें तो इसका कार्य-क्रम आप नहीं बना सकते, ऐसा अभ्यास-क्रम; तो मुझे ऐसा चाहे वह अधूरा ही क्यों न हो, कोई ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी तो स्वाभाविक संन्यासी होता है और ब्रह्मचर्याश्रम तो संन्याश्रम से भी बढ़कर है; किन्तु हमने उसे गिरा दिया है। इससे हमारे गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम दोनों ही बिगड़ गये हैं, और संन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। हमारी ऐसी असहाय अवस्था हो गयी है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है, उस पर तो अनुगमन करके आप पाँच सौ वर्षों में भी किसी आक्रमणकारी का सामना करने के लिये समर्थ न हो सकेंगे। यदि आज से ही दैवी-मार्गों का अनुकरण किया जावे तो आज ही हम किसी भी सशक्त का मुकाबिला करने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे। इसका कारण यह है कि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण में हो सकता है; परन्तु शारीरिक परिवर्तन के लिये तो युग बीत जा सकते हैं। हम दैवीमार्ग का अनुसरण तभी कर सकेंगे जब हमारे पहले पूर्व जन्म का पुण्य होगा, और हमारे लिये माता-पिता उचित साधन पैदा करेंगे।

संयम की व्याख्या आपने महात्मा गांधी द्वारा उपस्थित हुई पढ़ी। इसके पश्चात यह कहना शेष नहीं रह जाता। हाँ, इसकी आवश्यकता भी इसी से स्पष्ट हो जाती है। संसार में सशक्त व्यक्ति के लिये कोई चीज असम्भव नहीं रहती। दैवी शक्ति, आसुरी बल पर विजय पाती आयी है जो ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है। संयम ही ब्रह्मचारी का प्रधान

अस्त्र है। मन-वचन और कर्म तीनों से किसी को शुद्ध और पवित्र रहना चाहिये। अब पाठक वृन्द इसकी आवश्यकता पर ध्यान दें।

महात्मा गांधी को एक व्याह के इच्छुक महाशय अपने पत्र में यह बतलाते हैं कि—"पूज्य बापू, आप लिखते हैं कि संयम के पालन में एक को दूसरे की रजामन्दी की आवश्यकता नहीं है, क्या यह औचित्य की सीमा के आगे जाना नहीं है? पत्नी को जब तक अपने ज्ञान में साझी न बना सकें तब तक राह देखनी ही चाहिये। हिन्दुस्तान में अधिकांश अज्ञान का राज सर्वत्र फैला हुआ है और उसमें भी स्त्रियों के लिये तो पढ़ाई का एक तरह से दरवाजा ही बन्द है। ऐसे देश में यह मानने से कैसे काम चलेगा कि सब लोग सच्चे रास्ते को पहचान कर तुरन्त उस पर चलने लगेंगे। मैं अभी अविवाहित हूँ; पर थोड़े ही दिनों में व्याह होने वाला है। अतः संयम की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विवाह की सफलता पर आपके स्पष्ट विचार मुझे ज्ञात हों, इसी विचार से यह पत्र आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।"

"जिस संयम को दूसरे की सहमति की आवश्यकता होती है वह संयम टिक नहीं सकता और समाज को उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। संयम की सुरक्षा तो अन्तर्नाद से हो सकती है। संयम का बल मन के बल पर अवलम्बित है। 'संयम' ज्ञान और प्रेम-मय हो, तो उसकी छाप आस-पास के वातावरण पर अवश्य पड़ेगी। यहाँ तक कि विरोधी भी अनुकूल हो जाता है। पति और पत्नी के विषय में भी यही बात है। पत्नी तैयार न हो, तो तब तक पति को और पति तैयार न हो, तब तक पत्नी को रुकना पड़े।, इस प्रकार तब तो बहुत करके दोनों भोग-बन्धन से कभी छूट ही न सकेंगे। बहुत से उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि एक का 'संयम' दूसरे पर अवलम्बित होता है, वहाँ वह अन्त में टूट ही जाता है; और यह ढिलाई और कमजोरी ही इसका प्रधान कारण है। हम यदि कुछ और अधिक गहराई में उतर कर

देखें, तो मालूम होगा कि जहाँ एक को दूसरे की रजामन्दी की जरूरत होती है, वहाँ संयम की सच्ची तैयारी या उसकी सच्ची लगन होती ही नहीं। इसी से तो निष्कुलानन्दन का मत है कि "त्याग न टिके रे वैराग बिना।" वैराग्य को यदि 'राग' के साथ को जरूरत हो सकती हो, तो संयमी व्यक्ति को जो इसकी इच्छा रखता हो, संयम की इच्छा न करने वाले की सहमति की आवश्यकता हो सकती है।"

ऊपर दिए हुए पत्र के लेखक का रास्ता तो सीधा है। वह अभी अविवाहित हैं, और यदि वे संयम की आवश्यकता का अनुभव जीवन में समझ कर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, तो फिर वह कलह के बन्धन में ही क्यों बँधने जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में माता-पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धी, मित्र आदि तो अपने कच्चे अनुभव के बल पर यह कहेंगे ही कि एक युवक का ब्रह्मचर्य धारण की बात करना समुद्र-मंथन करके तैरना है। यों कह कर, धमकी देकर, बिगड़ कर और दण्ड देकर, भी उसे ब्रह्मचर्य के शुभ-संकल्प से डिगाने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु जिसके लिये ब्रह्मचर्य का भंग ही सब से बड़ा दण्ड हो, साम्राज्य पाने का प्रलोभन भी जिसे ब्रह्मचर्य को भंग करने के लिये तत्पर नहीं कर सकता, तो फिर वह किसी भी धमकी से डर कर क्यों ब्याह करेगा? जिसका आग्रह इतना तीव्र नहीं, जिसने संयम रखने में ब्रह्मचर्य का इतना बड़ा मूल्य न आँका हो, उसके लिये मेरे पास कोई औषधि नहीं है।"

महात्मा गांधी का यह निश्चित मत जान पड़ता है कि संसार में सर्व प्रधान मानुषिक जीवन का जो उद्देश्य है, वह संयम के बिना किसी प्रकार भी साफल्य नहीं प्राप्त कर सकता। स्त्री-पुरुष का सहवास संयमी व्यक्ति को इस मार्ग से नहीं हटा सकता। सृष्टि-शिरोमणि मनुष्य इसी के द्वारा बन सकता है। संसार का कल्याण संयमी की प्रवृत्ति में ही आधारित है। सादा और पुष्टिकर भोजन, शुद्ध खुली वायु, निरन्तर का ईश्वर-चिन्तन, परोपकार यही कुछेक साधन ऐसे हैं जिनकी

भित्ति पर संयम श्रृंगार पा सकता है। संयम-विहीन पुरुष संसार में कुछ नहीं कर सकता। इसकी आवश्यकता से सभी परिचित हैं। केवल मन पर थोड़ा-सा काबू पाना चाहिये। महात्मा कबीर ने लिखा है—

"मन सब पर असवार है, मन के पेड़ अनेक।
जो मन पर असवार है, सो कोउ विरला एक॥"

---

(२) मानुषिक मनोवृत्तियाँ और उनका प्रभाव

मन चंचल है। यह द्रुत-गामी प्रवृत्तियों को उद्रेक देनेवाला है। मनोवृत्तियाँ यहीं से उत्पन्न होतीं और मानुषिक वासनाओं का मनुष्य को क्रीतदास बनातीं और उसके सांसारिक जीवन को प्रायः नीरस बनाया करती हैं। यदि वास्तव में कोई व्यक्ति स्थायी सुख-उपभोग की इच्छा रखता है तो उसे अपने मन की भावनाओं को स्थायी बनाना पड़ेगा। क्षण-क्षण पर मन चलायमान होता है। वह सदैव मनुष्य को, समस्त प्राणियों को अपने इशारे पर नचाया करता है। इस प्रकरण में एक अंग्रेज को महात्मा गांधी ने जो उत्तर दिया है, वह सचमुच पठनीय एवं मानुषिक जीवन को समुन्नत बनाने के लिए महान गुणकारी सिद्ध होगा।

एक अङ्गरेज सज्जन लिखते हैं—"कि "यंग इन्डिया" में आपने सन्तति-निग्रह पर जो लेख लिखे हैं, उन्हें मैं बड़े ध्यान से पढ़ता रहा हूँ। मुझे आशा है कि आपने श्री जे० ए० हडफील्ड की "साइकालोजी एँड मारल्स" नामकी पुस्तक पढ़ी होगी। मैं उस पुस्तक के नीचे लिखे अवतरण की ओर आपका ध्यान दिलाता हूँ—

"विषय-भोग उस दशा में स्वेच्छाचार कहलाता है जब कि यह

प्रवृत्ति नीति के विरुद्ध मानी जाती हो, और विषय-भोग निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि यह प्रवृत्ति प्रेम का चिन्ह मान ली जावे। इस प्रकार की विषय-वासना की व्यक्तभावना वास्तव में दाम्पत्य-प्रेम को प्रगाढ़ बनाती है, उसे नष्ट नहीं करती। एक ओर मनमाना सम्भोग करने से और दूसरी ओर सम्भोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़ कर उससे बचते रहने से बहुधा अशान्ति उत्पन्न हो जाया करती है और प्रेम कम हो जाया करता है।" इसका अभिप्राय यह है कि लेखक के विचार से, सम्भोग में सन्तानोत्पति के अतिरिक्त दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ाने का धार्मिक गुण भी रहता है।

यदि लेखक की बात सच है, तो मुझे आश्चर्य है कि आप अपने इस सिद्धान्त का समर्थन कैसे करते हैं—"सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से किया गया सम्भोग ही उचित है, अन्यथा नहीं"—मेरे विचार से तो लेखक की बात बिलकुल सत्य है। केवल इसलिये नहीं कि वह एक मानस-शास्त्र-विशारद हैं, बल्कि मुझे स्वयं ऐसे उदाहरणों का पता है कि जिनमें शारीरिक प्रसंग द्वारा प्रेम व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा को रोकने से दाम्पत्य जीवन बिलकुल नीरस या नष्टप्राय हो गया है।

मान लीजिये कि एक युवक और युवती पारस्परिक प्रेम में आबद्ध हैं और उनका ऐसा करना ईश्वरीय व्यवस्था का एक अङ्ग है; परन्तु उनके पास अपने बालक शिक्षित बनाने के लिये पर्याप्त धन नहीं हैं। आप इससे सहमत हैं कि यदि बच्चों को शिक्षा देने की हैसियत न हो, तो सन्तानोत्पत्ति पाप है, अथवा यह समझ लीजिये कि बच्चा पैदा करने से स्त्री का स्वास्थ्य बिगड़ जावेगा, पर यह कि उसके पूर्व ही बहुत से बच्चे हो चुके हैं।

आपके कथनानुसार तो इस प्रकार के दम्पति के लिये दो ही मार्ग हैं। या तो इस प्रकार के लिये वे विवाह कर एक दूसरे से अलग रहें;

पर ऐसा होने पर 'हडफील्ड' की उपर्युक्त दलील के अनुसार उनका प्रेम समाप्त-प्राय हो जावेगा। अथवा दूसरे प्रकार से यदि वे अविवाहित रहें; लेकिन इस बात में भी तो प्रेम से उनका स्पर्श ही न हो पावेगा। इसका कारण यह है कि प्रकृति बलपूर्वक मनुष्य-कृत योजनाओं की अवहेलना किया करती है। हाँ, यह हो सकता है कि वे एक दूसरे से अलग होकर रहें; परन्तु वियोग की दशा में भी उनके मन में विकार तो उठते ही रहेंगे। यदि सामाजिक व्यवस्था बदल कर ऐसी कर दी जाय कि जिसमें सब लोग उतने बच्चों का पालन कर सकें, जितनों को कि वे पैदा करें, तो भी समाज को अत्यधिक बच्चे पैदा होने का और प्रत्येक स्त्री को सीमा से अधिक सन्तान उत्पन्न करने का डर तो बना ही रहेगा। पुरुष अपने आपको अत्यधिक वश में करके भी वर्ष में एक बच्चा तो उत्पन्न कर ही लेगा। आपको या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करना चाहिये, या सन्तति-निग्रह का; क्योंकि समय-समय पर किये हुए सम्भोग के फलस्वरूप जैसा कि कभी-कभी पादरियों में होता है—एक स्त्री, ईश्वर की इच्छा के नाम पर पुरुष के द्वारा प्रत्येक वर्ष एक बच्चा पैदा करने के कारण मर जा सकती है।

जिसे आप आत्म-संयम के नाम से पुकारते हैं, वह प्रकृति के कार्य में उतना ही बड़ा बल्कि उससे भी अधिक भयंकर हस्तक्षेप है, जितना कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम साधन हैं। सम्भव है कि पुरुष इन साधनों की सहायता से अत्यधिक सम्भोग करे; परन्तु उससे सन्तानोत्पत्ति तो रुक जावेगी। अन्त में इसका दुःख उन्हीं को भोगना पड़ेगा किसी दूसरे को नहीं। जो लोग इन साधनों का उपयोग नहीं करते वे भी आधिक्य के दोष से मुक्त नहीं हैं और उनके पापों के फल केवल उन्हीं को नहीं बल्कि उनकी सन्तति को भी भोगने पड़ते हैं जिनकी उत्पत्ति को वे रोक नहीं सकते।

"इङ्गलैंड में आज-कल खानों के मालिकों और मजदूरों में जो

झगड़ा चल रहा है, उसमें खानों के मालिकों की विजय निश्चित है। इसका कारण यह है कि खानों के मजदूरों की संख्या अधिक है। सन्तानोत्पत्ति की निरंकुशता से बेचारे बच्चों की ही हानि नहीं होती; परन्तु समस्त मानव जाति की होती है।"

इस पत्र से मनोवृत्तियों और उनके प्रभावों का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। जब आदमी का दिमाग रस्सी को साँप समझ लेता है तब उस समय विचार के कारण वह बहुत घबड़ा जाता है; या तो वह भागता है, या उस कल्पित साँप को मार डालने के लिये लाठी उठाता है। दूसरा आदमी किसी अन्य की स्त्री को अपनी पत्नी मान बैठता है और उसके मन में पशु-प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है; उसी क्षण उसका विकार ठण्ढा पड़ जाता है।

यही बात उपर्युक्त उस मामले के सम्बन्ध में भी मानी जाती है, जिसकी चर्चा पत्र-लेखक ने की है। 'सम्भोग' की इच्छा को तुच्छ समझ लेने के भ्रम में पड़ कर उससे परहेज करने से बहुधा अशान्ति पैदा होती है और प्रेम में कमी आ जाती है। यह एक मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ; परन्तु यदि संयम-प्रेम-बन्धन को अधिक दृढ़ बनाने के लिये किया। प्रेम को शुद्ध बनाने तथा एक अधिक अच्छे कार्य के लिये वीर्य जमा करने के अभिप्राय से किया जाय तो वह अशान्ति के स्थान पर शान्ति ही उत्पन्न करेगा और प्रेम-बन्धन को ढीला न करके उसे और भी दृढ़ बना देगा। यह दूसरी मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ।

जो प्रेम पशु-प्रवृत्ति की तृप्ति पर आधारित है, वह आखिर स्वार्थ नहीं तो और क्या है? वह स्वार्थ थोड़े से दबाव से ठण्ढा पड़ सकता है। फिर यदि पशु-पक्षियों की सम्भोग-तृप्ति को आध्यात्मिक रूप न दिया जाय तो मनुष्यों में होने वाली सम्भोग-तृप्ति को आध्यात्मिकता का रूप क्यों दिया जाय? हम जो चीज जैसी है उसे वैसी ही क्यों न देखें—वंश को बढ़ाने के लिये यह एक ऐसा काम है जिसकी ओर

हम सब अनायास खिंचे जाते हैं; परन्तु मनुष्य इसका अपवाद है, क्योंकि वही एक ऐसा पापी है जिसे ईश्वर ने मर्यादा के भीतर रख कर स्वतंत्र इच्छा दी है, और उसी के बल पर वह जाति की उन्नति के लिये, तथा पशुओं की अपेक्षा अपने उच्चतम आदर्शों को पूर्ण करने के लिये—जिसके निमित्त उसने संसार में प्रवेश किया है। इन्द्रिय-भोग न करने की क्षमता रखता है—संस्कार-वश ही हम यह मानते हैं कि बच्चे उत्पन्न करने के कारण के अतिरिक्त स्त्री-प्रसंग, दाम्पत्य-प्रेम के लिये—उसकी अभिवृद्धि के लिये आवश्यक है। बहुतेरे मनुष्यों का अनुभव तो यह है कि केवल विषयभोग के लिये ही किया गया स्त्री-प्रसंग न तो प्रेम ही बढ़ाता है और न उसका विशुद्ध और चिरस्थायी बनाने के लिये ही आवश्यक है।

ऐसे भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जिनमें आत्म-संयम से प्रेम और भी दृढ़ हो गया है। हाँ, यह आवश्यक है कि वह आत्म-संयम पति और पत्नी के बीच परस्पर आत्मोन्नति के लिए स्वेच्छानुसार किया जाना चाहिये। मानव-समाज तो निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होने वाली अथवा आध्यात्मिक विकास करती रहने वाली वस्तु है। यदि मानव-समाज इस प्रकार उन्नतिशील है तो उसका आधार शारीरिक वासनाओं पर दिनों-दिन अधिकाधिक नियन्त्रण करने पर निर्भर होना चाहिये। इस दृष्टि से विवाह तो एक ऐसी धर्म-ग्रन्थि समझा जाना चाहिये जो पति और पत्नी दोनों ही पर शासन करे और उन पर यह बन्धन अनिवार्यतः लगा दे कि वे सदा केवल अपने ही बीच विषय-भोग करेंगे और वह भी केवल सन्तान पैदा करने के उद्देश्य से, उस दशा में जब कि वे दोनों ही उसके लिए उद्यत और उत्सुक हों।

जिस प्रकार उक्त लेखक सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त भी स्त्री-प्रसङ्ग को आवश्यक बतलाता है, उसी प्रकार यदि हम भी कहना प्रारम्भ करें तो तर्क के लिये कोई जगह नहीं रह जाती। संसार के प्रत्येक भाग में

थोड़े से उत्तम पुरुषों के पूर्ण संयम के उदाहरण होते हुए भी उच्च सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं है। यह कहना कि ऐसा संयम मानव-समाज के लिये कठिन है। संयम की सम्भवतः और उत्तमता के विरुद्ध कोई दलील नहीं हो सकती। सौ वर्ष पहिले अधिकांश मनुष्यों के लिये जो बात सम्भव नहीं थी, वह आज सम्भव है और फिर असीम उन्नति के लिये हमारे सामने उपस्थित कालचक्र में १०० सालों का समय ही कितना है? यदि वैज्ञानिकों का अनुमान सत्य है—तो कल ही तो हमें आदमी का चोला मिला है! उसकी मर्यादा कौन जानता है और किसमें साहस है कि जो उसकी मर्यादा स्थिर कर सके? हम नित्य ही भला या बुरा करने की असीम शक्ति उसमें पाते हैं।

यदि संयम को सम्भव और श्रेयस्कर मान लिया जाय, तो हमें उसके पूरा करने योग्य बनने के साधन ढूँढ़ निकालने होंगे। यदि हम संयम से रहना चाहते हैं, तो हमें अपनी जीवनचर्या बदलनी पड़ेगी। लड्डू हाथ में भी रहे और पेट में भी चला जाये, यह दोनों कैसे हो सकता है! यदि हम जननेन्द्रिय का संयम करना चाहते हैं; तो हमें अन्य सभी इन्द्रियों का संयम करना ही होगा। यदि हाथ, पैर, नाक, कान, आदि सभी इन्द्रियों की लगाम ढीली कर दी जाय; तो जननेन्द्रिय का संयम असम्भव है। अशान्ति, चिड़चिड़ापन, हिस्टीरिया, पागलपन आदि रोग जिनके लिये लोग ब्रह्मचर्य पालन करने के प्रयत्न का दोष लगाते हैं, वास्तव में अन्य इन्द्रियों के असंयम का फल सिद्ध होंगे। कोई भी आदमी पाप का अथवा प्राकृतिक नियमों के तोड़ने का दण्ड भोगे बिना रह नहीं सकता।

शब्दों पर मैं कभी नहीं झगड़ता यदि आत्म-संयम, प्रकृति के नियमों का उसी प्रकार उल्लंघन है जिस प्रकार कि सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपाय हैं तो भले ही यह बात कही जाय, परन्तु मेरा खयाल तो तब भी यही बना रहेगा कि पहिला उल्लंघन कर्त्तव्य और श्रेयस्कर है। इसलिये

कि—उससे व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है और इसके विपरीत दूसरे से उन दोनों की पतन। बढ़ती हुई संयम-संख्या का निरोध करने के लिये ब्रह्मचर्य का एक ही सच्चा रास्ता है। स्त्री-प्रसंग के बाद बढ़ती हुई सन्तान रोकने के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग करने से तो मानव-समाज का नाश ही होगा।

"यदि खानों के मालिक गलत रास्ते पर होते हुए भी जीत जायेंगे तो इस लिये नहीं कि—मजदूरों से उनकी सन्तान की संख्या बहुत बढ़ गई है, बल्कि इसलिये कि मजदूरों ने संयम का पाठ सीखाही नहीं है। यदि उन लोगों के बच्चे न होते तो उनके आगे बढ़ने के लिये उत्साह ही न होता। क्या उन्हें शराब पीने, जुआ खेलने, या तमाखू पीने की आवश्यकता है? ब स यही इस बात का उचित उत्तर हो जावेगा—कि खानों के मालिक इन्हीं दोषों में लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हैं। यदि मजदूर लोग पूँजीपतियों से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं करते तो उन्हें संसार की सहानुभूति माँगने का अधिकार ही क्या है? क्या इसलिये कि पूँजीपतियों की संख्या बढ़े और पूँजीवाद का फौलादी पंजा और मजबूत हो हमें यह आशा दिलाकर प्रजा-सत्ता की दुहाई दी जाती है कि जब दुनिया में उसका बोल-बाला होगा; तब हमें अच्छे दिन दिखने को मिलेंगे। इसलिये हमें उचित है कि हम स्वयं उन्हीं बुराइयों में न फँसें जिनका दोष हम पूँजीपतियों और पूँजीवाद पर मढ़ते हैं।"

"मुझे बड़े दुःख के साथ इस बात का अनुभव है कि आत्म-संयम आसानी से नहीं किया जा सकता; परन्तु उसकी धीमी चाल से हमें तनिक भी घबराना नहीं चाहिये। शीघ्रता से कुछ काम नहीं बनता। धैर्य खो देने से जन-साधारण अथवा मजदूरों में अत्यधिक बच्चे पैदा करने की बुराई दूर नहीं होगी। मजदूरों की सेवा करने वालों के समक्ष, करने के लिये बहुत बड़ा काम है। उन्हें अपनी दिन-चर्या से वह पाठ

निकाल न देना चाहिये जो मानव-जाति के उत्तम से उत्तम शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव के बल पर पढ़ाया है। उनसे जो मौलिक सिद्धान्त उत्तराधिकार में हमें मिले हैं, उनका प्रयोग आधुनिक प्रयोग-शालाओं से कहीं अधिक उपयोगी और सम्पन्न प्रयोग-शालाओं में किया गया था। उन सभी महान पुरुषों ने हमें आत्म-संयम की शिक्षा दी है।"

महात्मा गांधी के अनुभूत प्रयोगों ने सारे संसार की आँखें खोल दी हैं। मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ भयंकर से भयंकर अनर्थ कर सकती हैं। सभी इन्द्रियों, इनके राजा मन एवं आत्मा को संयमित रख कर जो व्यक्ति संसार-सागर में अपनी नौका न छोड़ेगा—वह मनोवृत्तियों के दुर्दमनीय हवा के थपेड़ों और प्रभाव-जल की उत्ताल तरङ्गों में अपनी यह लीला असमय ही समाप्त कर जावेगा। हमें आत्म-संयमी बनकर अपनी मनोवृत्तियों को सदाचरण में लगाना चाहिये। सत्याचरण से ही मन की शुद्धि होगी। मन की शुद्धि से ही वह चंचल और चलायमान न होगा। वह देश-सेवा एवं राष्ट्र-हित-चिन्तन में तल्लीन होगा। इस प्रकार से वह मनुष्य-जीवन को सार्थक बनावेगा। संसार के सच्चे सुख-भोग की उपेक्षा करके वह 'ब्रह्मानन्द' में लीन होगा। अपनी आत्मा को परमात्मा में विलीन करके उन्मुक्त होगा और मोक्ष का सच्चा अधिकारी।

---

(३) संयम के साधन

कोई मनुष्य तब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने कार्यों को ठीक ढंग से नियमानुकूल नहीं करता। कार्यों के साधनों का ठीक उपयोग ही सिद्धी का कारण बनता है। यही नियम 'संयम' पर भी लागू होगा। संयम के साधनों का ठीक विवेचन महात्मा गांधी ने जिस प्रकार किया है; उससे बढ़कर आकार-प्रकार उसका हो ही नहीं सकता। इस प्रकरण में इन्हीं बातों का विशद वर्णन होगा।

संयम के साधनों से लाभ उठा कर मानव-मात्र संयम और भोग के वास्तविक तत्वों को पहिचान सकने में समर्थ होंगे।

(क) साधारण सिद्धान्त

महात्मा गांधी पूर्ण निश्चय के साथ कहते हैं—कि जो लोग भोग-विलास को अपना धर्म नहीं मानते और जो बार-बार आत्म-संयम के लिये प्रयत्नशील हैं, उनके लिये नीचे लिखी बातें साधारण सिद्धान्त के रूप में उपयोगी सिद्ध होंगी :—

१—यदि आप अविवाहित हों तो याद रखें—कि आप की पत्नी, आप की मित्र, सहचरी और सहधर्मिणी है, भोग-विलास का साधन नहीं।

२—आत्म-संयम अपने जीवन का नियम है। इसलिये सम्भोग तभी किया जा सकता है, जब कि पति और पत्नी दोनों ही उसके लिये इच्छुक हों और वह भी उन नियमों के अनुसार जिनका उन दोनों ने शान्त चित्त से निश्चय कर लिया हो।

३—यदि आप अविवाहित हैं तो अपने आप को पवित्र रखना अपने प्रति समाज और अपने भावी साथी के प्रति आपका पुनीत कर्त्तव्य है।

४—आप सदैव उस अदृश्य शक्ति का चिन्तन और विचार करें, जो हमारे हृदय में रह कर सदा हमारी देख-भाल करती है और प्रत्येक अपवित्र विचार से तुरन्त ही हमें सावधान कर देती है।

५—संयत जीवन के नियम, विलासिता के जीवन से अवश्य अलग होना चाहिये। इस कारण आप अपनी सहवास, अध्ययन, मनोरंजन और भोजन के स्थान, सभी बातें संयत रखें।

आप खोज कर भले और पवित्र मनुष्यों को अपना साथी बनावें। कामुकता के भावों से भरे उपन्यास और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना छोड़ दें

और साथ ही उन अमर रचनाओं को पढ़ें, जो संसार के लिये जीवन-प्रद हैं। समय पर काम देने और पथ-प्रदर्शन के लिये एक पुस्तक को सदा के लिये आप अपनी सहचरी बना लें।

आप थियेटर और सिनेमा त्याग दें। मनोरंजन वह है जिससे हृदय को शक्ति मिले। इस लिये आप उन भजन-मण्डलियों में जायें, जहाँ शब्द और संगीत दोनों ही आत्मा को ऊँचा उठाते हैं।

आप अपनी भूख बुझाने के लिये भोजन करें, जीभ के स्वाद के लिये नहीं। भोगी मनुष्य खाने के लिये जीता है और संयमी पुरुष जीने के लिये खाता है। आप मिर्च-मसालों, शराब तथा दूसरे मादक द्रव्यों का सेवन न करें। आपको अपने भोजन का समय और परिमाण नियत कर लेना चाहिये।

६—जब आपको काम-वासना सतावे, तब आप अपने घुटनों के बल बैठ कर सहायता के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें। बाहरी सहायता के लिये टब में बैठ कर हिम-बाथ ले लें। अर्थात् पानी से भरे हुए टब में बैठकर टाँगें बाहर निकाली जावें, इस प्रकार कुछ मिनट तक लेटें भी—ऐसा करने से आपकी काम-वासनायें शान्त हो जावेगी।

७—प्रातःकाल और रात को सोने से पहले खुली हवा में तेजी से टहलने की कसरत करें।

८—यह कहावत याद रखें—कि शीघ्र सोना और शीघ्र जागना, मनुष्य को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है। नियमित रूप से ९ बजे सोकर ४ बजे उठने की आदत डालनी चाहिये। खाली पेट सोना बहुत हितकर है। इसलिये आपका अन्तिम भोजन ६ बजे शाम तक हो जाना चाहिये।

९—याद रहे कि प्राणीमात्र की सेवा से ईश्वर की महत्ता और प्रेम-प्रदर्शित करने के लिये मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है। आप सेवा-कार्य ही में सुखी रहें, फिर आपको अपने जीवन में और सुखों की जरूरत न रह जावेगी।

(ख) राम की कृपा

आत्म-संयम के लिये महात्मा गांधी पूर्ण विश्वास के साथ राम की कृपा पर अपने को आश्रित रखते थे। इस सम्बन्ध में एक सज्जन लिखते हैं कि—

"आपने एक बार काठियावाड़ की यात्रा में कहा था—कि मैं जो तीन बहिनों से बच गया, सो केवल राम-नाम के भरोसे। इस सम्बन्ध में "सौराष्ट्र" ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो समझ में नहीं आतीं। उनमें कहा गया है—कि आप मानसिक पाप से न बचे। इस पर आप यदि अधिक प्रकाश डालें, तो बड़ी कृपा होगी।"

"पत्र-लेखक को मैं नहीं जानता। यह पत्र उन्होंने भाई के हाथों मेरे पास पहुँचा दिया। ऐसी बातों की चरचा सर्व-साधारण के सामने आमतौर पर नहीं की जा सकती। यदि साधारण आदमी किसी के निजी जीवन में गहरे पैठने की आदत डालें तो उसका फल बुरा हुए बिना न रहेगा।"

"मेरा निजी जीवन सार्वजनिक हो गया है, एक बात को भी मैं छिपा कर नहीं रख सकता। इस तरह के उचित अथवा अनुचित प्रश्नों से मैं बच नहीं सकता। बचने की मुझे इच्छा भी नहीं है। मेरे प्रयोग प्रायः आध्यात्मिक हैं, कितने ही प्रयोग नये भी हैं। वे प्रयोग आत्म-निरीक्षण पर आधारित हैं। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" के सूत्र के अनुसार मैंने प्रयोग किये हैं। इसमें ऐसी धारणा का समावेश है—कि जो बात मेरे सम्बन्ध में लागू है वही और लोगों के सम्बन्ध में भी होगी। इसलिये मुझे कितनी ही गुप्त बातों के उत्तर देने की भी जरूरत पड़ जाती है, फिर उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुझे राम-नाम की महिमा बताने का भी अनायास अवसर मिल जाता है। उसे मैं कैसे खो सकता हूँ।"

"अब सुनिये—तीनों अवसरों पर मैं किस प्रकार से ईश्वर कृपा से

बच गया। तीनों अवसर 'वार-वधुओं' से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास विभिन्न अवसरों पर मुझे मित्रगण ले गये थे। पहले अवसर पर झूठी लज्जा के कारण मैं वहाँ जा फँसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो जरूर मेरा पतन हो जाता। जिस घर में मैं ले जाया गया वहाँ उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं यह बिलकुल नहीं जानता कि ऐसे मौकों पर किस तरह क्या कहना चाहिये और किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये? इससे पहिले ऐसी स्त्रियों के पास तक बैठने में मैं अपमान समझता था। इसी कारण ऐसे घर में घुसते समय भी मेरा हृदय काँप रहा था। मकान में घुसने के बाद उसके चेहरे की ओर भी मैं न देख सका। मुझे पता नहीं कि उसका चेहरा था भी कैसा—ऐसे मूढ़ को वह चपला क्यों न निकाल बाहर कर देती? इसने दो-चार बातें जली-कटी सुनाकर अपने यहाँ से विदा कर दिया। उस समय मैं तो यह न समझ सका—कि मुझे ईश्वर ने बचाया। मैं तो खिन्न होकर दवे पाँव वहाँ से लौट आया। मैं पानी-पानी हो गया—लज्जित हुआ अपनी मूढ़ता पर, मुझे दुःख भी हुआ बहुत अपनी नादानी पर; मुझे ऐसा लगा कि मुझमें 'राम' नहीं है। पीछे मुझे ज्ञात हुआ कि उस समय मेरी मूर्खता ही मेरे लिये ढाल बन गई थी। ईश्वर ने मुझे मूर्ख, बेवकूफ, गँवार और पक्का देहाती समझकर मुझे उबार लिया। नहीं तो मैं, जो बुरा काम करने के लिये उस गन्दे घर में घुसा कैसे बच सकता था?"

"दूसरा अवसर इससे भी भयङ्कर था। यहाँ मेरी बुद्धि पहिले की तरह निर्दोष न थी। मैं सावधान अधिक था। इस पर भी मेरी पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञा की ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिनों के लिये वे एक गाँव में गये। मकान की मालकिन आधी वेश्या थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। उन दिनों मैं अवकाश मिलने पर ताश खेला करता था। विलायत में माँ-बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं। खेलते ही हैं। उस समय की रीति-रिवाज के अनुसार

हमने ताश खेलना स्वीकार कर लिया। मुझे तो पता भी न था कि मकान की मालकिन अपना शरीर बेंचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा, त्यों-त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय चेष्टा आरम्भ कर दी। मैं अपने मित्र को देख रहा था। वे मर्यादा छोड़ चुके थे। मैं ललचाया, मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया, मैं अधीर हो गया।"

"जिसकी राम रक्षा करता है उसे कौन गिरा सकता है।" ठीक ही है—

"जाको राखैं साइयाँ, मारि न सकिहैं कोय।
बाल न बाँका करि सके, जो जग वैरी होय॥"

उस समय राम मेरे मुख में तो नहीं था, परन्तु मेरे हृदय का स्वामी वह जरूर था। मेरे मुख में तो विषयोत्तेजक भाषा थी। मेरे मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा वे झट ताड़ गये। हम एक दूसरे से अच्छी तरह से परिचित थे। उन्हें ऐसे कठिन अवसरों की याद थी, जबकि मैं अपने इरादों में पवित्र रह सका था। मित्र ने देखा कि मेरी बुद्धि इस समय बिगड़ गई है। उन्होंने देखा कि इस रंगत में रात अधिक जावेगी, तो मैं भी उनकी ही तरह पतित हुए बिना न रहूँगा।

"विषयी मनुष्यों में भी अच्छे विचार होते हैं। इस बात का पता पहले-पहल मुझे इन्हीं मित्र के द्वारा लगा। मेरी हीन और गिरती दशा देख कर दुःखी हुए। मैं अवस्था में उनसे छोटा था। राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेम-बाण छोड़ते हुए कहा * 'मौनिया' मेरे धार्मिक इस चौथे मित्र ने कहा 'मौनिया' सावधान रहो मैं तो गिर चुका हूँ, तुम जानते ही हो, पर मैं तुम्हें गिरने न दूँगा। अपने माताजी

---

* 'मौनिया' मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी का लड़कपन का दुलार का नाम था। मेरे सम्बन्धी मुझे इसी नाम से पुकारते थे। माता-पिता, भाई और चौथे यह पुकारने वाले मेरे मित्र।

के सामने की हुई अपनी प्रतिज्ञा याद करो। यह काम तुम्हारा नहीं। भागो जाओ यहाँ से, अपने बिछौने पर हट। ताश रख दो।"

"मैंने कुछ उत्तर दिया या नहीं, याद नहीं है। मैंने ताश रख दिये। जरा दुःख हुआ, लज्जित हुआ, छाती धड़कने लगी। मैं उठ खड़ा हुआ। अपना विस्तर सँभाला।,,

"सवेरे मैं जागा, राम-नाम का आरम्भ हुआ। मन में कहने लगा—"कौन बचाया, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा! धन्य माता, धन्य मित्र। धन्य राम! मेरे लिये तो यह चमत्कार ही था। यदि मेरे मित्र ने मुझ पर राम-बाण न चलाये होते, तो मैं आज कहाँ होता?"

"मेरे लिये तो यह ईश्वर-साक्षात्कार का अवसर था। अब यदि मुझसे दुनियाँ कहे कि ईश्वर नहीं—राम नहीं—तो उसे मैं झूठा समझूँगा। यदि उस भयावनी रात में मेरा पतन हो गया होता, तो सत्याग्रह की लड़ाइयाँ मैं कैसे लड़ता? तो मैं अस्पृश्यता के मैल को न धोता होता, मैं चरखे की पवित्र ध्वनि न उच्चार करता, तो आज मैं अपने को करोड़ों स्त्रियों के दर्शन करके पावन होने का अधिकारी न मानता होता, तो मेरे आस-पास आज लाखों स्त्रियाँ ऐसे निश्शङ्क होकर न बैठती होतीं जैसे किसी बालक के आस-पास बैठती हैं। मैं उनसे दूर भागता होता, और वे भी मुझ से दूर होतीं। यह उचित भी था। अपने जीवन का सबसे विकराल समय मैं इस प्रसंग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने 'संयम' सीखा। इस प्रकार राम को भूलते हुए मुझे राम के दर्शन हुए—

"रघुवीर तुमको मेरी लाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार लगाओ जहाज॥"

"तीसरा प्रसंग हास्य-जनक है। एक यात्रा में जहाज़ के एक कप्तान और एक अँग्रेज से मेरी मित्रता हो गई। जहाँ जहाज किसी बन्दर पर ठहरता, वहाँ कप्तान और बहुत से यात्री वेश्या-घर ढूँढ़ते। कप्तान ने मुझ

से बन्दर देखने के लिये चलने को कहा। मैंने उसका मतलब नहीं समझा। हम सब लोग एक वेश्या के घर के सामने खड़े हो गये। उस वक्त मैंने जाना कि बन्दर देखने जाने का मतलब क्या है। तीन औरतें मेरे सामने खड़ी की गईं। मैं तो स्तम्भित हो गया, लज्जा के मारे न कुछ कह सका और न भाग ही सका। मुझे विषय की इच्छा तो तनिक भी न थी। ये दोनों आदमी कमरे में घुस गये। तीसरी बाई मुझे अपने कमरे में ले गई। मैं सोच ही रहा था "कि क्या करूँ? इतने ही में दोनों आदमी बाहर निकल आये। पता नहीं उस औरत ने मेरे विषय में क्या खयाल किया होगा? वह मेरे सामने हँस रही थी। मेरे दिल पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। हम दोनों ही की भाषा भिन्न थी। वहाँ मेरे बोलने का तो काम था ही नहीं, उन दोनों के पुकारने पर मैं बाहर चला आया। मैं कुछ शरमाया तो जरूर। उन्होंने अब मुझे ऐसी बातों में मूर्ख समझ लिया। आपस में उन्होंने मेरी दिल्लगी भी उड़ाई। मुझ पर उन्हें तरस आया। उस दिन से कप्तान के समक्ष संसार के मूर्खों में मैं शामिल हो गया। फिर उसने कभी भी मुझे बन्दर देखने के लिये चलने को न कहा। यदि मैं देर तक वहाँ रहता, अथवा उस बाई की बोली ही मैं जानता होता; तो मैं नहीं समझता कि मेरी क्या अधोगति हुई होती। इतना जरूर जानता हूँ कि उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल पर नहीं बचा था, बल्कि ईश्वर ने ही ऐसी बातों में मूढ़ रख कर मुझे बचा लिया था।"

"पाठक यह न समझें कि मेरे जीवन में यही तीन घटनायें घटित हुईं और कोई अवसर ही नहीं आया। बहुत से अवसर आये; किन्तु ऐसे मौकों पर मैं राम-नाम के बल पर ही बचा हूँ। ईश्वर खाली हाथों जाने वालों को ही, निर्बल को ही बल देता है।" देखिये न—

"जब लगि गज बल अपनों बरन्दो, नेकु सर्‌यौ नहीं काम।
निर्बल होय 'बल राम' पुकार्‌यो, आवे आधे नाम॥"

इस दशा में यह 'राम-नाम' है क्या वस्तु? क्या तोते की तरह राम

नाम रटना ? कदापि नहीं। अगर ऐसी ही बात हो तो हम सब का वेड़ा राम-नाम रट कर पार हो जावे। लेकिन नहीं, राम-नाम तो हृदय से निकलना चाहिये, फिर चाहे उसका उच्चारण शुद्ध हो या न हो, हृदय की तोतली बातें ईश्वर के दरबार में स्वीकार की जाती हैं। हृदय भले ही 'मरा-मरा पुकारता रहे फिर भी हृदय से निकली हुई आवाज खाते के जमा की ओर ही जमा होगी, परन्तु यदि मुख से शुद्ध नाम निकलता हो और हृदय का स्वामी हो रावण तो वह शुद्ध उच्चारण भी नाम की ओर ही अर्थात् व्यय खाते में लिखा जावेगा।"

'मुख में राम बगल में छुरी' वाले बगुला भगत के लिये राम-नाम की महिमा तुलसी दास ने नहीं गाई। उनके सीधे पाँसे भी उलटे पड़ेंगे। 'बिगड़ी का सुधारने वाला राम ही है। इसी लिये भक्त सूरदास ने गाया—

"बिगरी कौन सुधारे, राम बिनु बिगरी कौन सुधारे रे
बनी-बनी के सब कोई साथी, बिगरी के नहिं कोई रे॥"

इसलिये पाठक वृन्द खूब अच्छी तरह से सोच लें कि राम-नाम हृदय का बोल है। जहाँ वाणी और मन में एकता नहीं वहाँ वाणी केवल मिथ्या है, दम्भ है, शब्द-जाल है। ऐसे उच्चारण से चाहे दुनियाँ भले ही धोखा खा जाय, परन्तु अन्तर्यामी राम धोखा नहीं खा सकता है। हनुमान ने सीता की दी हुई माला के 'मनके' फोड़ डाले—यह देखने के लिये कि उनके भीतर राम-नाम है या नहीं ? अपने को समझदार समझने वाले सुभटों ने उनसे पूछा—सीता महारानी जी की माला का ऐसा अनादर क्यों ? हनुमान ने उत्तर दिया "यदि इसके भीतर राम-नाम न हो तो वह माला सीता जी की दी हुई होने पर भी मेरे लिये भार-भूत होगी।"

इस पर उन समझदार सुभटों ने मुँह बनाकर पूछा "क्या तुम्हारे भीतर राम-नाम है ?"

हनुमान ने छुरी से तुरन्त अपना हृदय चीर कर दिखाते हुए कहा "देखो इसमें राम-राम के अतिरिक्त और कुछ यदि हो तो कहना।"

सुभट लज्जित हुए। हनुमान पर पुष्प-वर्षा हुई। उसी दिन से राम कथा के समय हनुमान का आवाहन आरम्भ हो गया।

"हो सकता है कि यह कथा किसी कवि या नाटककार की रचना केवल कोरी रचना हो, परन्तु उसका सार अनन्तकाल के लिये सच्चा है। जो हृदय में है वही सत्य है।"

इस प्रकार राम-नाम संयम में यदि सहायक न हो तो मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। वास्तव में राम-नाम की महिमा अपार है—

"राम-नाम अवलम्ब विनु, परमारथ की आस।
चाहत वारिद बूँद गहि, तुलसी उड़न अकास॥"

इस जगत में राम-नाम ही मूल और सार-वस्तु है और नहीं तो सारा संसार असार तो है ही।

(ग) प्रयोग

महात्मा गांधी के प्रयोग अनुभूत सिद्ध हुए हैं। हर कठिनाई के समय उन्हें उनके हृदय के आत्म-प्रकाशों ने सहायता पहुँचाई है। इस सम्बन्ध में एक सज्जन उनसे पूछते हैं—"कि ब्रह्मचर्य क्या है? क्या पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पालन करना सम्भव है? यदि सम्भव है तो क्या आप पालन करते है?"

"ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है—ब्रह्म की खोज करना। ब्रह्म सर्व व्यापक है। अतः ध्यान, धारणा और आत्मानुभव से उसे अपने अन्तःकरण में खोजना चाहिये। समस्त इन्द्रियों के पूर्ण संयम के विना आत्मानुभव असम्भव है। इसलिये ब्रह्मचर्य का मतलब है—मन, वचन और कर्म से हर समय, हर जगह सब इन्द्रियों का संयम।"

"ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने वाले स्त्री या पुरुष होते

हैं। ऐसे व्यक्ति परमेश्वर के निकट होते हैं। वे ईश्वरवत् होते हैं। इस प्रकार पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना सम्भव है। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह कहते हुए मुझे दुःख होता है कि ब्रह्मचर्य की उस पूर्ण अवस्था तक मैं नहीं पहुँच सका हूँ; परन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिये मैं अथक उद्योग कर रहा हूँ, और इसी जीवन में वह पूर्ण अवस्था प्राप्त करने की आशा मैंने नहीं छोड़ी है।"

"अपने शरीर पर मैंने पूरा अधिकार कर लिया है। जाग्रत अवस्था में मैं बहुत सावधान रहता हूँ, मैंने वाणी का संयम कर लिया है; परन्तु विचारों के सम्बन्ध में मुझे अभी बहुत कुछ करना है। जब मैं अपने किसी विशेष बात पर जमाना चाहता हूँ तब दूसरे विचार आकर मुझे तङ्ग करते हैं। इससे विचारों में परस्पर संघर्षण होता है। जाग्रत अवस्था में तो मैं विचारों के संघर्षण को रोक लेता है? मैं अपवित्र विचारों से मुक्त हूँ; परन्तु सोते समय मैं अपने विचारों को उतना संयत नहीं कर पाता। सोते समय हर के विचार मन में आ जाते हैं। कभी-कभी ऐसे स्वप्न भी देखता हूँ कि जनको कोई आशा नहीं होता। कभी पहिले भोगी वस्तुओं की वासना जाग उठती है। जब इच्छाएँ दूषित होती हैं तब स्वप्नदोष भी होता है। यही पाप-मय जीवन का चिन्ह है।"

"मेरे दूषित विचार क्षीण होते जा रहे हैं—किन्तु अभी उनका नाश नहीं हो पाया। यदि अपने विचारों पर पूर्णतया अधिकार कर लिया होता तो पिछले दस वर्षों में मुझे जो पसली का दर्द, संग्रहणी, पेट का फोड़ा आदि बीमारियाँ हुईं, वे कभी न होतीं। मेरा विश्वास है कि निष्पाप आत्मा स्वस्थ शरीर में वास करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों आत्मा पाप से मुक्त होकर निर्विकार होती जाती है, त्यों-त्यों शरीर भी नीरोग होता जाता है; किन्तु यहाँ स्वास्थ्य शरीर का अर्थ बलवान शरीर नहीं है। शक्तिशाली आत्मा केवल दुर्बल शरीर

में निश्वास करता है। जैसे-जैसे आत्मा की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे शरीर दुर्बल होता जाता है। शरीर बिलकुल स्वास्थ होने पर भी दुर्बल हो सकता है। बलिष्ठ शरीर बहुधा रोग-ग्रस्त रहता है। रोग-ग्रस्त न हो तो भी बलवान शरीर को संक्रामक रोग बड़ी जल्दी दबा लेता है। स्वस्थ शरीर पर संक्रामक रोगों की छूत का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। शुद्ध रक्त में ऐसे रोगों के कीटाणुओं को दूर करने का गुण होता है।"

इस प्रकार की अद्भुत स्थिति को प्राप्त करना कठिन अवश्य है; अन्यथा मैं अब तक उसे प्राप्त कर चुका होता। मेरी आत्मा इस बात की साक्षी है कि इस प्रकार की ऊँची और दुर्लभ अवस्था प्राप्त करने के लिये मैं कोई बात भी उठा नहीं रखता। ऐसा कोई भी बाहरी कारण नहीं है कि जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने में मुझे रोक सके; परन्तु हमारे लिये पूर्वजन्म के संस्कारों का मिटाना सहज नहीं है। पाप से रहित पूर्ण अवस्था की कल्पना मेरे सामने है। मुझे कभी-कभी उसकी धुँधली झलक भी दिखाई देती है। इस अवस्था को प्राप्त करने में यद्यपि विलम्ब हो रहा है, तो भी अब तक की प्रगति को देखते हुए मैं तनिक भी निराश नहीं हुआ हूँ; किन्तु यदि अपनी आशा पूर्ण होने से पहले मैं मर भी जाऊँ तो भी मैं इसमें अपनी असफलता नहीं समझूँगा, इस लिये पुनर्जन्म में मैं उतना ही विश्वास करता हूँ जितना कि इस शरीर अस्तित्व पर। इसी कारण मैं समझता हूँ कि थोड़े-से थोड़ा प्रयत्न भी कभी निष्फल नहीं जाता।

अब तक मैंने ब्रह्मचर्य का निरूपण व्यापक दृष्टि और अर्थ में किया है। इसका प्रचलित अर्थ है—"मन, वचन, और कर्म से वासनाओं का संयम।" वह अर्थ भी ठीक है, इसलिये कि पाशविक वासनाओं का संयम अत्यन्त कठिन समझा जाता है। जिह्वा के संयम पर इतना अधिक जोर नहीं दिया गया, इसीलिये वासनाओं का दमन इतना कठिन, यहाँ तक

कि असम्भव प्राय हो गया है। वैद्यों और डाक्टरों का विश्वास है कि रोगी शरीर को वासना अधिक सताती है, इसी कारण रोग से जर्जरित दुर्बल समाज को ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिक जान पड़ता है।

मैंने ऊपर दुर्बल, किन्तु स्वस्थ शरीर के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं शारीरिक बल की उपेक्षा करता हूँ। मैंने तो स्वाभाविक ढङ्ग से ब्रह्मचर्य के उत्कृष्ट रूप का वर्णन किया है। इससे भ्रम फैल सकता है। जो सब इन्द्रियों का पूर्ण-रूपेण संयम करना चाहता है उसे अन्त में शारीरिक दुर्बलता का स्वागत करना ही पड़ेगा। शरीर का मोह न रहने पर, शारीरिक बल की इच्छा भी नहीं रहती; किन्तु उस ब्रह्मचारी का शरीर, जिसने विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, अत्यन्त तेजस्वी और बलवान होना चाहिये। यह ब्रह्मचर्य सचमुच अद्भुत है। जिस व्यक्ति को स्वप्न में भी विषय-सम्बन्धी दूषित विचार नहीं सताते, वह सचमुच समस्त विश्व के लिये वन्दनीय है। ऐसे ब्रह्मचारी के लिये दूसरी इन्द्रियों का संमय बहुत सरल है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक दूसरे सज्जन लिखते हैं—

"मेरी दशा बड़ी दयनीय है। दफ्तर में, सड़क पर, पढ़ने-लिखने, काम करने में और यहाँ तक कि प्रार्थना करते समय भी पाप-पूर्ण विचार मेरे मन में घुसे रहते हैं। पता नहीं चलता कि मैं अपने मानसिक विचारों पर नियन्त्रण किस प्रकार करूँ। समस्त स्त्री जाति को माता के समान कैसे देखूँ? दुष्ट-विचारों को कैसे दबा दूँ? आपकी ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अनुभूत प्रयोगों और सम्मतियों से मुझे तनिक भी लाभ नहीं होता।"

"यह दशा सचमुच हृदय को दहला देने वाली है। हममें से अधिकांश मनुष्य इसी दशा में रहते हैं, परन्तु जब तक मन उन विचारों के साथ संघर्ष करता है तब तक निराश होने की कोई बात नहीं है। यदि

आँखें पाप की ओर बढ़ें तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिये। यदि कान अपराध करें तो उनमें रूई भर लेनी चाहिये। आखें नीची करके चलने की आदत बड़ी अच्छी है। जहाँ गन्दी बातें हों, अथवा गन्दे गीत गाये जा रहे हों वहाँ से उठकर अन्यत्र चला जाना चाहिये।"

मेरा अनुभव तो यह है—"कि जो व्यक्ति स्वाद को नहीं जीत सका वह विषयों को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना सहज नहीं है; किन्तु वासना का संयम जिह्वा के संयम के साथ बँधा है। स्वाद को जीतने का एक नियम तो यह है कि मिर्च मसालों को बिलकुल ही या जितना हो सके, छोड़ दिया जाय। दूसरा नियम यह है कि इस भावना को सदा ही जाग्रत किया जाय कि हम स्वाद के लिये नहीं; किन्तु शरीर-रक्षा के लिये भोजन करते हैं।"

वासनाओं पर विजय पाने का सबसे बड़ा और जबरदस्त साधन तो 'राम-नाम' का जप अथवा ऐसा ही कोई दूसरा मंत्र है। द्वादश-मंत्र भी काम देता है। अपनी-अपनी भावना के अनुसार हो प्रत्येक व्यक्ति किसी भी मन्त्र का जप करे। मुझे बचपन से ही राम-नाम सिखाया गया था, मुझे संकट-कालीन परिस्थितियों में इससे सदैव सहारा मिलता है। जो मन्त्र हम जपें उसमें तन्मय हो जायँ। यदि और विचार बीच में बाधा डालें तो उनकी परवाह न करें। जो व्यक्ति इस प्रकार श्रद्धा और भक्ति से जप करेगा उसे सफलता अवश्य मिलेगी। इस पर मुझे पूर्ण विश्वास है। मन्त्र साधक के जीवन का सहारा बन जाता है और उसे सारे संकटों से बचा देता है। इस प्रकार के पवित्र मन्त्रों का उपयोग किसी सांसारिक लाभ के लिये नहीं करना चाहिये। वास्तव में इन मन्त्रों का महत्व तो अपनी 'नीयत' को सुरक्षित रखने में है। प्रत्येक साधक यह तुरन्त ही अनुभव कर लेगा, तोते की तरह मन्त्र रटने से कोई लाभ नहीं है। उसमें अपनी आत्मा को प्रवेश करा देने की आवश्यकता है।"

(घ) व्रत

इस संसार में मनुष्य जब तक किसी कार्य के करने का अनुष्ठान नहीं कर लेता, व्रत नहीं लेता, तब तक वह कृत-कार्य नहीं हो सकता। महात्मा गांधी के व्रत अनूठे थे। उन पर चल कर कोई व्यक्ति सांसारिकता से ऊँचे ऊपर उठकर आध्यात्मिकता का समीपी बन जाता है, यह दृढ़ निश्चय है।

"विवाह के समय से ही मेरे हृदय में एकपत्नी-व्रत का दृढ़ निश्चय हो गया था। यही भाव मन में घर कर गया था। पत्नी के प्रति वफादार रहना मेरे सत्य-व्रत का एक अङ्ग था। परन्तु अपनी पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य से रहने की जरूरत मुझे दक्षिणी अफ्रिका में मालूम पड़ी। मेरे इन विचारों में भाई रामचन्द्र का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। एक बार मैं कह रहा था कि मिस्टर ग्लैडस्टन के प्रति श्रीमती ग्लैडस्टन का प्रेम सराहनीय है। एक बार मैंने कहीं पढ़ा था कि हाउस आफ कामंस की बैठक में श्रीमती ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बनाकर पिलाती थी। उस प्रेम निष्ठ दम्पति के जीवन का यह नियम ही बन गया था। मैंने यह बात कवि जी रामचन्द्र भाई को कहकर सुनाई और दाम्पत्य-प्रेम की बड़ी प्रशंसा की। रामचन्द्र भाई ने कहा "इसमें आपको कौन-सी बात महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है। श्रीमती ग्लैडस्टन का पत्नी-भाव या सेवाभाव? यदि वे मिस्टर ग्लैडस्टन की बहिन होतीं तो या उसकी वफादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो? ऐसी बहिनों, या ऐसी नौकरानियों के उदाहरण का आज हमें न मिलेंगे और नारी जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि मनुष्यों में देखा होता तो आपको इतना हर्ष और आश्चर्य न होता? इस बात पर विचार कीजियेगा।"

'रामचन्द्र भाई विवाहित थे। उनकी यह बात उस समय मुझे कठोर मालूम हुई, परन्तु उनके इन वचनों ने मुझे लौह-चुम्बक की तरह जकड़

लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामी भक्ति का मूल्य पत्नी की स्वामी-निष्ठा के मूल्य से हजार गुना अधिक है। पति-पत्नी में प्रेम का होना कोई अश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। मेरी दृष्टि में कवि जी की बातों का बल दिनों दिनों बढ़ता गया।"

"मेरे मन में यह विचार उठा कि अपनी पत्नी के साथ मुझे कैसा बरताव करना चाहिये? स्त्री को विषय-भोग का साधन बनाने से उसके प्रति वफादारी कैसे हो सकती है? जब तक मैं वासना का शिकार रहूँगा तब तक वफादारी का मूल्य ही क्या होगा? पत्नी की ओर तो कभी मेरे ऊपर ज्यादती नहीं हुई। इस लिये स्वेच्छानुसार मेरे लिये ब्रह्मचर्य-पालन की पूरी सुविधा थी। वासना में अपनी आसक्ति ही मुझे इस व्रत के पालन से रोक रही थी।"

"इस प्रकार सजग हो जाने के बाद भी मैं दो बार असफल हुआ। मेरे इस उद्योग का आदर्श ऊँचा न था। केवल सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही मुख्य उद्देश था। विलायत में मैंने सन्तति-निग्रह के बाहरी साधनों के सम्बन्ध में कुछ बातें पढ़ ली थीं। मिस्टर हिल्स सन्तति-निग्रह के बाहरी साधनों के विरोधी तथा संयम के समर्थक थे। उनके विचारों का मेरे हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ा। आगे चल कर अनुभव के द्वारा वे ही विचार मेरे स्थायी हो गये। इसी कारण सन्तति-निरोध की जरूरत मालूम पड़ते ही मैंने संयम से रहने का श्री गणेश कर दिया।"

"संयम से रहने में बड़ी कठिनाइयाँ थीं। हम घर में चारपाइयाँ दूर रखते। मैं रात को थक कर सोने का उद्योग करने लगा। इन उद्योगों का परिणाम तत्काल तो न दिखाई दिया; परन्तु भूतकाल पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि इन्हीं सब उद्योगों से मुझे अन्तिम बल मिला।"

"संयम से रहने का अन्तिम निश्चय तो मैं सन् १९०६ में कर सका। उस वक्त सत्याग्रह आरम्भ नहीं हुआ था। मुझे स्वप्न में भी उसका ध्यान न था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में 'जूलू' लोगों का बलवा हुआ। उन दिनों मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता था। मेरे मन में विचार उठा कि इस समय बलवे में नेटाल सरकार को मैं अपनी सेवाएँ समर्पित कर दूं। मैंने ऐसा ही किया। सरकार ने मेरी सेवाएँ स्वीकृत भी कर लीं। इसी समय मेरे मन में यह भाव उठा कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तति-रक्षण दोनों ही लोक-सेवा के मार्ग में विरोधी हैं। बलवे में सेवा करने के कारण मुझे अपना जोहान्सबर्ग वाला घर तितर-बितर कर देना पड़ा। बड़ी सज-धज के साथ सजाये हुए घर को और उसमें बहुत-सी सामग्री जुटाये हुए एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया स्त्री-बच्चों को रहने के लिये 'फीनिक्स' भेज दिया और मैं घायलों की सेवा करने वालों की एक टोली बना कर चल दिया। इन कठिनाइयों का सामना करने के कारण मैंने अनुभव किया कि यदि मुझे लोक-सेवा के काम में तन्मय होकर लग जाना है तो पुत्र, धन आदि की कामना से भी अलग-विलग होकर मुझे वान-प्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिये।"

"बलवे में मुझे लगभग डेढ़ महीना रहना पड़ा। यह छः सप्ताह का समय मेरे जीवन का मूल्यवान समय था। ब्रह्मचर्य-व्रत का महत्व इस समय मेरी समझ में सबसे अधिक आया। मैंने अनुभव किया कि कि यह व्रत बन्धन नहीं, बल्कि स्वतन्त्रता का द्वार है। अब तक मेरे उद्योगों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी, इसलिये कि मुझमें दृढ़ता नहीं थी, मुझे अपनी शक्ति पर विश्वास न था, मुझे ईश्वर की कृपा पर भरोसा नहीं था। इसी लिये मेरा मन अनेक विकारों के अधीन था। मैंने अनुभव किया कि व्रत-बन्धन से अलग रहकर आदमी मोह में फँसता है। 'व्रत के बन्धन में बँधना भी व्यभिचार से मुक्त होकर एक

पत्नी से सम्बन्ध रखना है।' 'मेरा विश्वास तो उद्योग में है, व्रत के बन्धन में बँधना नहीं चाहता।' यह बात निर्बलता की द्योतक है और इसके अन्तस्तल में छिपकर भोग की इच्छा मौजूद है। जो चीज त्याग करने योग्य है उसे बिलकुल छोड़ देने में कुछ हानि नहीं हो सकती है। जो साँप मुझे काटने वाला है, उसे मैं निश्चय ही हटा देता हूँ। केवल उसे हटाने के लिये उद्योग ही नहीं करता, इसलिये कि मैं जानता हूँ कि केवल उद्योग का फल मृत्यु के रूप में प्रकट होगा। उद्योग में साँप की विकराल मूर्ति के स्पष्ट-ज्ञान की कमी है। इसी तरह हम जिस चीज को छोड़ देने का उद्योग मात्र करते हैं, उसके छोड़ देने की जरूरत हमें स्पष्ट रूप से मालूम नहीं पड़ी। इस बात से यही प्रकट होता है—'मेरे विचार यदि पीछे से बदल जायँ; तो क्या होगा?" इस तरह की शङ्का से व्रत लेते हुए हमें डर लगता है। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का 'अभाव' है। इसी लिये निष्कुलानन्द ने कहा है—

"त्याग न टिकै, वैराग विना।"

जहाँ किसी वस्तु में पूर्ण वैराग हो गया, वहाँ उसके लिये 'व्रत' लेना स्वभावतः अनिवार्य हो जाता है।"

(ङ) आहार

मनुष्य के संयम पर आहार और विहार का मुख्य प्रभाव पड़ा करता है। जिस प्रकार का आहार जिसका होगा, वैसा ही उसका संयम होगा। यह ध्रुव निश्चित है। आहारों पर यदि कोई अपने नियन्त्रण कर ले, वह जीने योग्य भोजन करें, तो कोई भी व्यक्ति पूर्ण संयमी होकर वास्तविक सुख भोग कर सकता है। महात्मा गांधी के इस सम्बन्ध के अभूतपूर्व प्रयोग नीचे की पंक्तियों में लिखे जा रहे हैं—

उनका कहना है कि "ब्रह्मचर्य-पालन के लिये 'उपवास' करना अनिवार्य है।" "स्वाद को जीत लेना—यही ब्रह्मचारी के लिये प्रमुख,

सुगम एवं सरल साधन है। मेरे भोजन सम्बन्धी प्रयोग आहार की दृष्टि से नहीं, किन्तु ब्रह्मचारी की दृष्टि से किये गये हैं। मेरा निजी अनुभव है कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और स्वाभाविक रूप में होना चाहिये। ब्रह्मचारी के आहार तो वन के पके फल हैं। मैं छः वर्ष तक स्वयं इसका प्रयोग कर चुका हूँ। जिन दिनों मैं केवल हरे अथवा रुखे वन के पके फलों पर निर्भर रहा करता था, उन दिनों सचमुच बिलकुल निर्विकार अवस्था का अनुभव करता था। फलाहार जब अन्नाहार में परिणत हो गया तब वह दशा न रही। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य से रहना सुगम था; किन्तु वह दूध के आहार के कारण कष्ट-साध्य हो गया है। ब्रह्मचारी के लिये दूध का आहार विघ्न-बाधक है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि हर ब्रह्मचारी के लिये दूध छोड़ना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य पर आहार क्या प्रभाव डालते हैं? इस सम्बन्ध में अभी और प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध की भाँति शरीर के अङ्ग-प्रत्यंग को सुदृढ़ बनाने वाला और उतनी ही सुगमता से पच जाने वाला फलाहार अभी तक मुझे नहीं मिला। अब तक कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर भी ऐसे फल या अन्न नहीं बता सका है। इसलिये यह जानते हुए भी कि दूध विकार उत्पन्न करता है, मैं किसी से उसके छोड़ने की सिफारिश नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, उसी तरह 'उपवास' की बात भी है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं। चारों ओर से जब उनको घेरा जाता है तभी वे काबू में रहती हैं। यह बात भी सभी जानते हैं कि आहार के बिना वह अपना काम भी नहीं कर सकतीं। इस कारण इस बात में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वेच्छानुसार किये गये उपवासों से इन्द्रियों के दमन करने में बड़ी ही सहायता मिलती है। कितने ही आदमी उपवास करने पर भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम

चल जायेगा। ऐसे लोग बाहरी उपवास तो करते हैं, किन्तु मन में छप्पन प्रकार के मोहन-भोगों का ध्यान करते हैं। उपवास के समय वे विचार करते हैं कि उपवास की समाप्ति पर क्या-क्या खावेंगे? इतने पर भी शिकायत यह की जाती है कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। वास्तव में उपवास से तो वहीं लाभ होता है जहाँ संयम में मन भी साथ देता है। इसका मतलब यह है कि मन में वासना और भोगों के प्रति विराग होना जरूरी है। विषयों का मूल तो मन में है। उपवास करते हुए भी आदमी विषयासक्त रह सकता है। उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल नाश सम्भव नहीं है। इसी कारण उपवास ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का अनिवार्य अंग है।

संयमी या त्यागी तथा स्वच्छन्द या भोगी के जीवन में अन्तर होता है। समता तो केवल ऊपरी ही होती है। अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। आँखों से दोनों ही काम लेते हैं; परन्तु ब्रह्मचारी, देव-दर्शन करता है और भोगी नाटक-सिनेमा देखने में तल्लीन रहता है। कान का उपयोग दोनों ही करते हैं, पर एक ईश्वरीय भजन सुनाता है और दूसरा विलासी गीतों को सुनने में सुख अनुभव करता है। दोनों ही जागते हैं, परन्तु एक तो जाग्रत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में बैठे हुए 'राम' की उपासना करता है और दूसरा नाच-रंग देखने की धुन में सोना भी भूल जाता है। भोजन दोनों ही करते हैं, परन्तु एक शरीर के वीर्य की रक्षा के लिये पेट में अन्न डालता है और दूसरा स्वाद के लिए बहुत-सी चीजों को पेट में भरकर उसे खराब करता है। इस प्रकार दोनों ही तरह के लोगों के आचार-विचार में अन्तर रहता है, और यह अन्तर दिनों-दिन बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं।

(च) स्वास्थ्य का राज-पथ

संसार में नीरोग रहना सबसे उत्तम है। अतुल धन-राशि के रहते हुए भी यदि शरीर स्वस्थ न रहा तो करवटें बदलते-बदलते ही रातें

कट जाती हैं। आज-कल नवयुवकों के स्वास्थ्य का क्या कहना ! शरीर पीला, गालों में गड्ढे, आँखें धँसी हुईं, चेहरे पर मुहासों का झुरमुट। एक तरह से बुढ़ाई का ठीक प्रदर्शन। शक्ति और साहस तो इतना कि कुत्तों के भौंकने पर पछाड़ खाकर गिरना यही कला है। हाथ में छड़ी, कलाई में घड़ी धोती जनानी, स्त्रियों को मात करने वाली चाल, बाल बड़े घुँघराले। कपड़ों के उतारने पर शरीर की सभी हड्डियाँ आसानी से गिनी जा सकती हैं। माता-पिता, घर वाले और संरक्षक तथा अभिभावक यह समझते हैं कि लड़का पढ़ाई के परिश्रम में पीला पड़ता जाता है। बात बिलकुल इसके उलटी होती है। घर से पैसों को आँख मूँद कर ले जाते, साथियों को साथ ले सिनेमाघरों में जाते, बीड़ी-सिगरेट, चाय-बिस्कुट उड़ता। अप्राकृतिक कुकृत्यों से भी वे बाज नहीं आते। गरम चटपटे भोजन की सामग्री भी उन्हें अस्वस्थ करती हैं। बाल्यावस्था की कुटेवें—अनायास वीर्य-पात से असमय ही क्षय-खाँसी आदि रोगों के शिकार होते हैं। इस प्रकार धन का धन और हाथ का अपना शरीर दोनों से घर वाले हाथ धो बैठते हैं। ऐसे लोगों के लिये महात्मा गांधी की सत् सम्मतियाँ राम-बाण औषधि का कार्य करेंगी—

"स्वास्थ्य अच्छा बनाये रखने के लिए अनेक आवश्यक कुञ्जियों की आवश्यकता है। इनकी सबसे अधिक आवश्यक और मुख्य कुञ्जी 'ब्रह्मचर्य' की है। स्वास्थ्य के लिये स्वच्छ जलवायु और उत्तम भोजन हितकर होता है। यदि हम जितना स्वास्थ्य सँभालें, उतना ही बिगाड़ दें, तो स्वास्थ्य कैसे बन सकता है। जितना धन हम कमावें, उतना ही खर्च कर दें, तो अन्त में निर्धन होने से कैसे बच सकते हैं? इसलिये स्त्री-पुरुष दोनों ही को स्वास्थ्य-धन को संचित करने के लिये ब्रह्मचर्य पालन की सख्त जरूरत है। जो अपने वीर्य की रक्षा करता है, वही वीर्यवान और बली बन सकता है।"

"ब्रह्मचर्य" क्या है? ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है कि पुरुष और

स्त्री एक दूसरे से भोग न करें और न एक दूसरे को विकार की दृष्टि से देखें और छुपें भी उनके मन में स्वप्न में भी विकार के विचार न उठें। एक दूसरे को कामुकता की दृष्टि से न देखें। ईश्वर ने जो गुप्त शक्ति हमें प्रदान की है, बड़ी दृढ़ता के साथ हम उसे संचित करें और शारीरिक, मानसिक और आत्मिक ओज तथा पौरुष का आलोक प्राप्त करने के लिये हम उसका उपयोग करें"—

"अब तनिक हम इस बात पर विचार करें कि हमारे चारों ओर क्या तमाशा हो रहा है? पुरुष और स्त्री, बूढ़े और तरुण, युवक और युवती, बालक-बालिकाओं सभी तो काम-लिप्सा के जाल में जकड़े हुए हैं। वासना से अन्धे होने के कारण उन्हें सत्य-असत्य की पहिचान तक नहीं है। वासना में ग्रसित उन्मत्त लड़के-लड़कियों को मैंने स्वयं पागलों की तरह भटकते हुए देखा है। मेरा अनुभव भी इसी तरह का है। क्षण भर के सुख के लिये हम बड़े परिश्रम से उत्पन्न की हुई अमूल्य निधि के रूप म सञ्चित अपनी जीवनी शक्ति को पल भर में गँवा देते हैं। नशा उतरने पर हम अपना खजाना खाली पाते हैं। दूसरे दिन प्रातः हमारा शरीर भारी और सुस्त मालूम पड़ता है और दिमाग काम करने से इनकार कर देता है। फिर शक्ति प्राप्त करने के लिये हम दूध का काढ़ा पीते हैं। भस्म और मोती पड़ी हुई तरह-तरह की दवाइयाँ खाते हैं। डाक्टरों-वैद्यों के द्वार पर जाकर अलख जगाते और ताकत की दवाइयाँ माँगते हैं, और सदैव इस तलाश में रहते हैं कि भोग की नष्ट की हुई शक्ति फिर से प्राप्त कर लें। इस प्रकार एक के बाद दूसरे दिन और वर्ष बीतते चले जाते हैं। बुढ़ापा आने पर शरीर और दिमाग दोनों क्षीण हो जाते हैं।"

"प्रकृति के नियमानुकूल हमारी बढ़ी हुई अवस्था के साथ ही हमारी बुद्धि को भी तेज होना चाहिये। जितना लम्बा हमारा जीवन हो, उतनी ही अधिक अपने संचित अनुभव और ज्ञान से अपने दूसरे भाइयों

का पथ-प्रदर्शन करने की हम में योग्यता हो। सच्चे ब्रह्मचारियों का यही हाल रहता है। वे मृत्यु से तो डरना जानते ही नहीं। वे मृत्यु के समय भी ईश्वर को नहीं भूलते, वे व्यर्थ की कामनाओं के शिकार नहीं होते, वे ही वास्तव में सच्चे पुरुष और स्त्री हैं। वे ही सच्चे अर्थ में अपने स्वास्थ्य और शरीर की रक्षा करने में समर्थ हो सके हैं।"

"अहंकार क्रोध, भय, ईर्ष्या, आडम्बर आदि का कारण है ब्रह्मचर्य व्रत का भंग होना।" मन के वश में न रहने से तथा बार-बार बच्चे से भी अधिक नादान बन जाने से जाने या अनजाने हम कौन-सा पाप न कर बैठेंगे और घोर पाप कर्म करते हुए भी आगा-पीछा कैसे सोच सकेंगे?"

"परन्तु यह पूछा जा सकता है "कि क्या कभी किसी ने ऐसा ब्रह्मचारी देखा है? यदि सब लोग ब्रह्मचारी बन जायें, तो क्या संसार का सर्वनाश हो जायेगा?" इन प्रश्नों के धार्मिक पहलू पर हमें विचार नहीं करना है, केवल संसारिक दृष्टि ही से इन प्रश्नों पर हमें विचार करना है। मेरी समझ में इन दोनों प्रश्नों की तह में हमारी कमजोरी और कायरता छिपी हुई है। वास्तव में हम ब्रह्मचर्य पालन करना ही नहीं चाहते। इसी लिये उससे बचने के लिये सैकड़ों बहाने ढूँढ़ निकालते हैं। दुनियाँ में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले बहुत हैं; परन्तु यदि वे योंहीं आसानी से मिल जाय, तो उनका मूल्य ही क्या रहे। हीरा निकालने के लिये हजारों मजदूरों को खानों के भीतर घुसना पड़ता है तब कहीं जाकर पर्वताकार चट्टानों के ढेर से मुट्ठीभर हीरे मिलते हैं। इस दशा में हीरों से कहीं अधिक मूल्यवान ब्रह्मचारी हीरों को ढूँढ़ने के लिये कितना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा? इसका हिसाब लगाना कठिन नहीं है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने से यदि संसार का नाश होता हो, तो हमें क्या? हम ईश्वर हैं नहीं, जो संसार की चिन्ता करें? जिसने संसार को पैदा किया है, वही उसकी रक्षा करेगा। हमें यह जानने की तकलीफ

नहीं उठानी चाहिये कि और लोग ब्रह्मचर्य पालन करते हैं या नहीं। हम व्यापार, वकालत, या डाक्टरी आदि पेशों का काम आरम्भ करते समय तो कभी इस बात का विचार नहीं करते कि यदि सभी व्यापारी, वकील या डाक्टर बन जायँ, तो क्या परिणाम होगा? जो लोग वास्तव में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें अपने-आप मिल जायेगा।"

"सांसारिक आदमी इन विचारों के अनुसार कैसे काम करें—विवाहित आदमी क्या करें जिन लोगों के बाल-बच्चे हैं, वे कैसे चलें? जो लोग वासना को वश में नहीं कर सकते, वे क्या करें? इस सम्बन्ध में मैं ब्रह्मचर्य का सबसे ऊँचा आदर्श को अपने सामने रखें और वहाँ तक पहुँचने का भरसक प्रयत्न करें।"

"छोटे बच्चों को जब अक्षर लिखना सिखाया जाता है तब उनके सामने अक्षर का उत्तम नमूना रखा जाता है और वे हू-बहू या उससे मिलती-जुलती नकल करने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार यदि हम अखंड ब्रह्मचर्य का आदर्श अपने-अपने सामने रख कर कार्य करें और निरतर उस आदर्श तक पहुँचने के उद्योग में लगे रहें, तो अन्त में वहाँ तक पहुँचने में सफलता मिलेगी।"

"यदि हमारा विवाह हो चुका है, तो क्या हुआ? प्रकृति के नियम के अनुसार ब्रह्मचर्य तोड़ा जाये, जब पति और पत्नी दोनों ही की इच्छा संतान उत्पन्न करने की हो। इस विचार को ध्यान में रख कर जो लोग चार या पाँच वर्ष में एक बार ब्रह्मचर्य भंग करते हैं, वे वासना के गुलाम नहीं हो जाते और न उनके वीर्य-धन के भंडार में कुछ विशेष घाटा ही होता है; परन्तु दुःख की बात तो यह है कि ऐसे विरले ही स्त्री-पुरुष मिलेंगे, जो केवल संतान के लिये ही विषय भोग करते हैं। बाकी हजारों आदमी तो ऐसे ही मिलेंगे जो केवल अपनी काम-वासना तृप्त करने के

लिये ही भोग करते हैं, और फलस्वरूप उनकी इच्छा के विरुद्ध बच्चे पैदा हो जाते हैं।"

"कामना के उन्माद में हम सचमुच इतने अन्धे हो जाते हैं कि अपने कार्यों का परिणाम तक नहीं सोचते। इस सम्बन्ध में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक दोषी हैं। वे अपने कामुक उन्माद में अन्धे होकर यह तक भूल जाते हैं कि जो दुर्बल है और उसमें बच्चा पैदा करने की तथा उसके पालन-पोषण करने की शक्ति और सामर्थ्य नहीं है। पश्चिम के लोगों ने तो इस सम्बन्ध में बिलकुल हद कर दी है। वे रात-दिन भोग-विलास में मस्त रहते हैं, और ऐसे ऐसे विचित्र उपाय ढूँढ़ निकालते हैं कि जिससे सन्तान की भी जिम्मेदारी से बच जावें। इस सम्बन्ध में बहुत-सी पुस्तकें भी लिख डाली गई हैं। और सन्तति-निग्रह के साधनों के पेशे का व्यवसाय चल पड़ा है। अब तक हम इस पाप से मुक्त हैं; किन्तु अपनी स्त्रियों पर मातृत्व का बोझ लादते समय इस बात की जरा भी परवाह नहीं करते कि हमारे बच्चे दुर्बल, नपुंसक और मूर्ख होंगे। बच्चे पैदा होने पर हम ईश्वर की कृपा की सराहना करते हैं। अपने कर्मों की क्रूरता को छिपाने का हमने यह एक ढंग बना रखा है।

"दुर्बल, लूली, लँगड़ी, विषयी और डरपोक सन्तान का होना ईश्वरीय कोप है। बारह वर्ष की लड़की से बच्चा पैदा होने में प्रसन्नता की बात क्या है जिसके लिये ढोल पीटे और मनोहर राग अलापे जायँ। इस प्रकार बारह वर्ष की लड़की का माता बन जाना ईश्वर के कोप के अतिरिक्त और है क्या? यह तो सभी जानते हैं कि अल्हड़ पेड़ में समय से पहिले फल लग जाते हैं जिससे पेड़ कमजोर पड़ जाते हैं। इसी प्रकार से अनेक प्रयत्न करके हम जल्दी उनमें फल नहीं लगने देते। जब स्त्री-पुरुष के रूप में बालक-बालिका से बच्चा पैदा होता है तब हम ईश्वर की प्रशंसा के गीत गाते हैं। यह हमारी मूर्खता नहीं तो और

क्या है ? भारत अथवा संसार के किसी भाग में यदि नपुंसक बच्चे अधिक बढ़ जायें तो इससे हमारे देश का अथवा ससार का क्या लाभ होगा ? वास्तविक बात तो यह है कि हमसे तो वे पशु ही अच्छे हैं जिनमें नर-मादा को संयोग का अवसर केवल बच्चे पैदा कराने के लिये ही दिया जाता है।"

"गर्भाधान के समय से लेकर, बच्चे के दूध पीना छोड़ देने के समय तक स्त्री-पुरुष को अलग पवित्रता के साथ अपना जीवन बिताना चाहिये; परन्तु हम अपने पवित्र कर्तव्य की उपेक्षा करके भाग-विलास में बराबर निमग्न रहते हैं। इस दशा में हमारा मन कितना रोगी है ? यह रोग असाध्य रोग के नाम से पुकारा जाता है। यह रोग थोड़े ही दिनों में हमें मृत्यु के निकट पहुँचा देता है। विवाहित स्त्री-पुरुष विवाह का वास्तविक उद्देश्य समझें और सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी समय भी ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग न करें।"

"हमारी आज-कल बड़ी दमनीय दशा है। इसमें ऐसा करना बहुत कठिन है। हमारी खुराक, रहन-सहन, हमारी बातें आस-पास का वायु-मण्डल सभी वासना का जगाने वाले हैं। काम-लिप्सा हमारे जीवन में विष की तरह प्रविष्ट हो चुकी है। लोग यह कह सकते हैं कि इतनी गिरी दशा में मनुष्य इस बीमारी से कैसे छुटकारा पा सकते हैं ? यह बात इस प्रकार की शङ्का करते फिरने वालों के लिये नहीं लिखी जा रही है। यह तो केवल उन उत्साही लोगों के लिये है, जो आत्मोन्नति के लिये निरन्तर जागरूक रहकर भरसक प्रयत्न करने के लिये उद्यत हों। जो लोग वर्तमान स्थिति पर सन्तोष किये बैठे हों, उन्हें तो इसका पढ़ना भी दूभर जान पड़ेगा। जो लोग अपनी हीन दशा से ऊब चुके हैं, उन्हें इस विचार से लाभ होगा।"

"इन सब बातों का निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों ने अभी तक विवाह नहीं किया, वे अविवाहित रहने का उद्योग करें। यदि बिना

विवाह के काम ही न चल सके, तो वे यथासम्भव देर से शादी करें। तरुण पचीस-तीस वर्ष तक ब्याह न करने का प्रण करें। इससे निरोगता के अतिरिक्त जो लाभ होंगे, उनके सम्बन्ध में यहाँ हमें कुछ नहीं कहना है। लोग स्वयं अनुभव करके देख सकते हैं।"

"जो माता-पिता इस लेख को पढ़ें उनसे मुझे यह कहना है कि वे बाल्यावस्था में अपने बच्चों की शादी करके, उनके गले में चक्की का पाट न बाँध दें। वे अपने बच्चों के हिताहित पर विचार करें, और केवल अपनी अन्धी स्वार्थ-पूर्ति करने में ही न लगे रहें। बिरादरी में नाम कमाने, तथा अपने घर की झूठी मान-मर्यादा की शान पूर्णता-पूर्ण विचारों को छोड़ कर एक दम से सन्यास ले लें। यदि सचमुच वे अपने बच्चों का कल्याण चाहते हैं, तो वे उनके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास की ओर ध्यान दें। बचपन से ही बच्चों के सिर पर जबर्दस्ती गृहस्ती की जिम्मेदारी डाल देने से अधिक और उनका अहित क्या हो सकता है?"

"स्वास्थ्य के उपयुक्त नियमों पर चल कर कोई व्यक्ति पूर्णरूपेण स्वस्थ रह सकता है। इन नियमों के अनुसार ही स्त्री की मृत्यु के पश्चात् पुरुष और पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्री दूसरी शादी न करे। क्या तरुण स्त्री-पुरुषों को कभी वीर्य-पात की आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में डाक्टरों में परस्पर मतभेद है। कुछ की राय में तरुण-स्त्री-पुरुषों को वीर्य-पात करना चाहिये और कुछ की राय इसके विरुद्ध है। इस दशा में यह खयाल कर कि एक पक्ष के डाक्टरों की राय हमारी तरफ है, विषय-भोग में लिप्त नहीं हो जाना चाहिये? मैं अपने तथा दूसरे लोगों के अनुभव के आधार पर निस्संकोच यह कहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षा के लिये विषय-भोग आवश्यक ही नहीं, किन्तु अत्यन्त हानिकर है। वर्षों की संचित की हुई तन और मन दोनों ही की शक्ति केवल एक बार के वीर्य-पात से इतनी अधिक नष्ट हो जाती है कि फिर उसे प्राप्त करने में

बहुत अधिक समय लगता है और फिर भी पहिले की अवस्था तो प्राप्त हो नहीं सकती। टूटे शीशे को जोड़ कर उससे काम भले ही चला लें, पर रहेगा तो वह टूटा ही।"

"वीर्य-रक्षा के लिये शुद्ध जल, वायु, भोजन, और पवित्र विचारों की जरूरत है। आचरण और स्वास्थ्य का बहुत बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। पवित्र आचरण के बिना पूर्ण निरोगता प्राप्त नहीं की जा सकती। जब जगे, तभी सवेरा है—यह समझ कर जो अपने जीवन में पवित्रता का आरम्भ करेगा, उसे अपरिमित लाभ होगा।"

"जितने लोगों ने थोड़े समय भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, उन्हें अपने मन और शरीर के बढ़े हुए बल का अनुभव जरूर हुआ होगा। एक बार यह पारसमणि हाथ लग जाने पर वे अपने प्राणों की तरह बड़े यत्न से इसकी रक्षा करते होंगे। मुझे स्वयं ब्रह्मचर्य के अपरिमित लाभों का अनुभव हुआ है। ब्रह्मचर्य का मूल्य समझ लेने के बाद भी मैंने भूलें की और उनका बुरा फल भोगा है। पिछली भूलों से मैं इस 'पारसमणि' की रक्षा करना सीख गया हूँ और आगे भी ईश्वर की दया से इसे सुरक्षित रख सकूँगा, इसकी पूरी आशा है।"

"बचपन में मेरी शादी हुई और उसी दशा में मैं बच्चों का बाप बना। गफलत की नींद से जगने पर मालूम हुआ कि मैं अन्धकार में पड़ा हूँ। मेरी भूलों और अनुभवों से यदि एक आदमी भी बच सकेगा तो मैं यह प्रकरण लिख कर अपना परिश्रम सफल समझूँगा। लोग कहते हैं, और मैं इस बात को मानता भी हूँ कि मुझमें शक्ति और उत्साह खूब है। मेरा मन भी दुर्बल नहीं है। कितने ही आदमी तो मुझे हठी बतलाते हैं; किन्तु मेरे मन और शरीर में अभी रोग बाकी है। फिर भी अपने संसर्ग में आये हुए लोगों से अपने को मैं अधिक स्वस्थ समझता हूँ और दूसरे लोग भी ऐसा समझते हैं। प्रायः बीस वर्षों तक विषय-भोगों में लिप्त रहने के बाद ब्रह्मचर्य पालन करके मैं यह अवस्था प्राप्त

कर सका हूँ। इस दशा में यदि मैं बीस वर्षों में भी अपने आपको पवित्र रख सका होता, तो आज मैं कितनी अच्छी दशा में होता। जब मेरे ऐसा अधूरा ब्रह्मचारी इतना लाभ उठा सकता है तब अखंड ब्रह्मचर्य से कितनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्ति प्राप्त हो सकती है, इसकी कल्पना करना आसान नहीं है।"

"जहाँ ब्रह्मचर्य-पालन का नियम इतना जटिल है, जहाँ विवाहितों, विधुर पुरुषों और विधवा स्त्रियों तक को ब्रह्मचर्य-पालन का आदेश दिया जाता है, वहाँ असंगत व्यभिचार में लिप्त रहने वालों के लिये क्या कहा जा सकता है? पर स्त्री या वेश्या गमन अथवा अप्राकृतिक दुष्कर्मों से लोग सुजाक, गरमी आदि नाम न लेने वाली बीमारियों से सड़ते हुए दिखाई देते हैं। प्रकृति की दया से ऐसे लोगों को उनके कुकृत्यों का फल तुरन्त ही मिल जाता है। फिर भी उनकी आँखें नहीं खुलतीं और जीवन भर अपनी बीमारियों के इलाज के लिये डाक्टरों का दरवाजा खटखटाते फिरते हैं। यदि पर स्त्री, वेश्या गमन एवं अप्राकृतिक कुकृत्य बन्द हो जावें तो आधे डाक्टर तो अवश्य ही बेकार हो जावेंगे। मानव-समाज इन बीमारियों का इतना शिकार हुआ है कि विचारशील डाक्टरों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि यह दुष्कर्म इसी तरह बराबर जारी रहें तो कोई दवा मनुष्य जाति को नष्ट होने से नहीं बचा सकती। इन बीमारियों की दवाएँ इतनी जहरीली होती हैं कि वे थोड़े दिनों तक आराम देती दिखाई पड़ती हैं, पर ऐसी अनेक नई बीमारियाँ पैदा कर देती हैं जो पीढ़ियों तक पीछा नहीं छोड़तीं।"

"अविवाहित स्त्री-पुरुषों को ब्रह्मचर्य पालन के उपाय बतलाकर इस प्रसंग को समाप्त कर देंगे। ब्रह्मचर्य के लिये शुद्ध जल, वायु और भोजन के सम्बन्ध में सावधान रहने से काम नहीं चलेगा। पति को अपनी पत्नी के साथ का एकान्तवास भी छोड़ देना पड़ेगा। संयोग के अतिरिक्त पति और पत्नी को एकान्तवास की जरूरत कभी

नहीं पड़ती। रात में वे दोनों ही अलग-अलग कमरों में सोवें और दिन में निरन्तर अच्छे कार्यों में लगे रहें। वे ऐसी पुस्तकों और महान पुरुषों के पुण्य-पवित्र चरित्रों का पाठ करें जो उनके मन को पवित्र विचारों से ओत-प्रोत कर दें। स्त्री-पुरुष सदैव इस बात पर विचार करते रहें कि भोग में दुःख ही दुःख है। यदि उनके मन में वासना प्रवेश करे तो ठँढे पानी से नहा लें। यह कार्य कठिन है; परन्तु यदि हमें स्वास्थ्य का परमानन्द प्राप्त करना है तो हिमालय-जैसी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनी ही पड़ेगी।"

(छ) सत्य का आधार

सांसारिक व्यवहार में कुछ लोगों का विचार है "कि सत्याचरण सम्भव नहीं हो सकता। यह व्यर्थ विडम्बना है। यदि सारा जगत ईश्वर प्रेरित हो जाय, तो दूषित वातावरण क्षण भर में निर्मल और स्वच्छ हो जाये। जगतीतल का मूलाधार सत्य ही है। मन-वचन-कर्म से जो व्यक्ति सत्य निष्ट होता है वह हर तरह से सफल रहता है। महात्मा गांधी ने इसी को अधार मानकर अपनी गाड़ी आगे चलाई और वह अभीष्ठ स्थान पर पहुँची थी। इस प्रकरण में उनके विचार बिलकुल स्पष्ट दिखलाये गये हैं—

"हमारे एक मित्र ने महादेव देसाई जी को लिखा है "कि आप को याद होगा कि 'नव जीवन' में गांधी जी ने एक लेख लिखते हुए स्वीकार किया था कि उन्हें अब भी कभी-कभी स्वप्नदोष हो जाता है। उसे पढ़ते ही मैं सोचने लगा कि ऐसे लेखों से कोई लाभ नहीं है। आगे चल कर मालूम हुआ कि मेरा यह भय निराधार नहीं था।"

"विलायत की यात्रा में अनेक प्रलोभनों के रहते हुए भी मैंने और मेरे साथियों ने अपना चरित्र शुद्ध रखा। स्त्री, मदिरा मांस से हम अलग रहें, पर गांधी जी का लेख पढ़कर एक मित्र ने कह डाला "गांधी जी के

भीषण प्रयत्नों के बाद भी, यदि उनकी यह हालत है तो हम किस खेत की मूली हैं? इस दशा में ब्रह्मचर्य पालन का उद्योग व्यर्थ है। गांधी जी की स्वीकारोक्ति से मेरा दृष्टिकोण बदल गया है। मुझे तो बिलकुल गया-बीता ही समझ लो।" अनेक युक्तियों के साथ बहस करके मैंने समझाने का उद्योग किया; किन्तु कोई सफलता न मिली। मैंने उसे कहा, यदि गांधी जी ऐसे व्यक्तियों को ब्रह्मचर्य-पालन करना ठीक है, तो हमें तो और भी अधिक जागरूक और प्रयत्नशील होना चाहिये; परन्तु इस प्रकार की दलीलों से कोई लाभ नहीं हुआ। आज तक जिस व्यक्ति का चरित्र निष्कलंक और पवित्र था, वह अब कलंकित हो गया। यदि कर्म-सिद्धांत के अनुसार इसका दोष कोई गांधी जी पर लगावे, तो आप या गांधी जी क्या कहेंगे?"

"जब तक मेरे सामने ऐसा केवल एक उदाहरण था तब तक मैंने आप को नहीं लिखा, उसके लिए शायद मुझे आप अपवाद कहकर टाल देते, परन्तु इसके बाद कई ऐसे उदाहरण मेरे सामने आये जिनसे मेरा भय और भी सत्य सिद्ध हो गया।"

"मैं यह जानता हूँ कि जो बहुत-सी बातें गांधी जी के लिये सरल हो सकती हैं, वे मेरे लिये बहुत ही कठिन हैं; किन्तु ईश्वर की दया से मैं यह भी कैसे कह सकता हूँ कि जो बातें मेरे लिये सरल हों, वे ही उनके लिये असम्भव हो सकती हैं। ऐसे ही अहँभाव ने मुझे पतन के गर्त में गिरने से बचा लिया। गान्धी जी की स्वीकारोक्ति से तो मेरा चित्त विचलित हो चुका है।"

"क्या आप इस ओर गांधीजी का ध्यान आकर्षित करेंगे और खासकर ऐसे अवसर पर जब कि वे अपनी 'आत्म-कथा' लिख रहे हैं। बिलकुल नंगे रूप में सत्य प्रकट करना वीरता जरूर है, किन्तु इससे 'नव-जीवन' और 'यंग-इण्डिया' के पाठकों में भ्रम फैल सकता है। मुझे डर

है कि जो चीज एक व्यक्ति के लिये अमृत है वही दूसरे के लिये विष सिद्ध न हो।"

"इस शिकायत से मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ जब असहयोग-आन्दोलन का जोर था तब मैंने अपनी एक गलती मान ली। इस पर एक मित्र ने बड़ी सरलता से कहा था—"आपको यदि कोई अपनी भूल मालूम हो तो भी उसे प्रकट न करना चाहिये। लोगों के मन में यह भाव जमा रहना चाहिये कि ऐसा भी कोई एक आदमी है जिससे कोई भूल नहीं होती। अन्य ऐसे ही समझे जाते थे। अब आपने अपनी भूल स्वीकार कर ली है, अतः लोग हताश हो जाएँगे। इस पत्र को पढ़ कर मुझे हँसी भी आई और दुःख भी हुआ। यह विचार भी मेरे लिये असह्य था कि लोगों को विश्वास दिलाया जाय कि जो आदमी गलती करता है उससे कभी गलती नहीं होती।"

"किसी भी व्यक्ति का सच्चा स्वरूप जान लेने से लोगों को सदैव लाभ ही होता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे अपनी गलती मान लेने से जनता को लाभ ही हुआ है, और मेरे लिये तो यह ढंग सर्वोच्च सिद्ध हुआ है।"

"मेरे दूषित सपनों के सम्बन्ध में भी यही बात है। पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर यदि मैं वैसा होने का दावा करूँ तो इससे संसार की बहुत बड़ी हानि होगी, क्योंकि ऐसा करने से ब्रह्मचर्य में धब्बा लगेगा, और सत्य का प्रकाश धुँधला पड़ जावेगा। ब्रह्मचर्य का झूठा दावा करके मैं उसका मूल्य कम करने का साहस क्यों करूँ। आज मैं देखता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिये जो उपाय मैं बतलाता हूँ वे पूर्ण नहीं हैं। सब जगह और सब लोगों पर उनका एक समान प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। दुनियाँ यह माने कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ, और मैं ब्रह्मचर्य का सीधा और सच्चा मार्ग न दिखा सकूँ तो यह कितनी भयङ्कर बात होगी!"

"मैं सच्चा साधक हूँ। सदा जाग्रत रहता हूँ। मेरा उद्योग दृढ़ है और मैं विघ्न-बाधाओं से कभी डरता नहीं। केवल मेरी इतनी ही बात से दूसरों को उत्साह क्यों न मिले? झूठे प्रमाणों द्वारा कोई फल निकालने की गलती क्यों की जाय? सीधे यह बात क्यों न देखी जाय कि जो आदमी किसी समय व्यभिचारी और विकार-पूर्ण था, वह आज यदि अपनी पत्नी के पास संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी स्त्रियों के साथ भी अपनी लड़की या बहिन का-सा व्यवहार कर सकता है तो गिरे-से-गिरा आदमी भी उठ सकता है? हमारे स्वप्न-दोषों को, या विकार-भरे विचारों को तो ईश्वर दूर करेगा ही।"

"पत्र-लेखक के वे मित्र, जो मेरी स्वप्न-दोष की स्वीकारोक्ति को जान कर अपने पथ से विचलित हुए—कभी आगे बढ़े ही नहीं थे। उन्हें झूठा नशा था जो एक जरा-सा धक्के में तुरन्त ही उतर गया। ब्रह्मचर्य ऐसे महाव्रतों की सत्यता मेरे ऐसे किसी भी व्यक्ति के ऊपर निर्भर नहीं है। उसके पीछे तो लाखों तेजस्वी महापुरुषों ने तप किया है और कुछ लोग तो उस पर पूर्ण विजय तक प्राप्त कर चुके हैं।"

"उन चक्रवर्ती महान पुरुषों की पंक्ति में खड़े होने का जब मुझे अधिकार प्राप्त होगा तब मेरी भाषा में आज से भी कहीं अधिक निश्चय बल और ओज दिखाई देगा। वास्तव में वही मनुष्य स्वस्थ कहा जावेगा, जिसके विचारों में विकार नहीं है, जिसकी नींद सपनों से भंग नहीं होती, और जो निद्रित रहने पर भी जागरूक रहता है। ऐसे आदमी को कभी भी कुनैन खाने की जरूरत नहीं होती। उसके निर्विकार रूप में मलेरिया आदि बीमारियों के कीटाणुओं को नष्ट कर देने की शक्ति होती है। शरीर, मन और आत्मा की ऐसी ही स्वस्थ दशा को प्राप्त करने के लिये मैं उद्योग कर रहा हूँ। इसमें हारने की तो कोई बात ही नहीं है। इस उद्योग में उक्त पत्र के लेखक, उनके श्रद्धाहीन मित्रों

५६

तथा अन्य पाठकों को, अपने साथ चलने के लिये मैं आमन्त्रित करता हूँ और चाहता हूँ कि लेखक की तरह वे मुझ से भी अधिक तेजी के साथ आगे बढ़ें जो लोग पीछे हों वे मेरे ऐसे आदमियों के लिए उदाहरण से आगे बढ़ कर आत्म विश्वासी बनें। मुझे जो कुछ भी सफलता मिल सकती है, वह मेरे निर्बल और विकार-वश होने पर भी, सतत उद्योग, श्रद्धा और ईश्वर-कृपा से ही मिल सकी है।"

"इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति को निराश होने का कोई कारण नही है। मेरा महात्मा पन कौड़ी काम का नहीं है। यह तो मेरे बाहरी छोटे-छोटे कर्मों, खास कर राजनैतिक कामों के कारण हैं। यह क्षणिक है, इस लिए दो दिन में उड़ जावेगा। मेरा सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य-पालन ही मेरे कार्यों का अधिक मूल्यवान अंश है। उस अंश की भूल कर भी अवज्ञा न करें। उसी में मेरा सर्वस्व है। उसमें दिखलाई पड़ने वाली विफलता-सफलता की सीढ़ी है। इस लिए निष्फलता को भी मैं प्यार की दृष्टि से देखता हूँ।"

(ज) सन्तति-निरोध

मानव समाज आज जितना सन्तति-निरोध के कृत्रिम साधनों की ओर झुक रहा है, उतना उसके वास्तविक मूल कारण की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में कृत्रिम साधनों का उपयोग तो अमानवता है। स्वास्थ्य और शरीर दोनों की समाप्ति है। इसके विपरीत कुछ लोग सन्तति-प्रसार की घुड़दौड़ में बहुत आगे बढ़े दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार दोनों की होड़ चल रही है; किन्तु कल्याण एक में भी दिखाई नहीं पड़ रहा है। दोनों का परिणाम संहार ही है। ऐसी दशा में अप्राकृतिक कर्मों को छोड़ कर प्रकृति के नियमानुकूल आचरण करके अभीष्ट की प्राप्ति सम्भव है। इस विषय में महात्मा गांधी जी ने विचार प्रकट किए हैं; वे पठनीय और विचारणीय है वास्तव में इन मार्गों पर चलना समाज के लिए हितकारी होगा। फिर चाहे वह पूर्व

समाज हो अथवा पश्चिम का सब का कल्याण महात्मा गांधी के सत्परामर्शों से निहित है। वे कहते हैं कि—

"स्त्री-पुरुष के सम्मिलन का उद्देश्य सम्भोग नहीं; किन्तु सन्तानोपत्ति है।" जब से मैं हिन्दुस्तान में वापस आया हूँ, तभी से लोग मुझ से कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति-निग्रह की चरचा कर रहे हैं। अब से ३५ वर्ष पूर्व इस ओर मेरा ध्यान गया था। उन दिनों मैं इङ्गलैण्ड में पढ़ता था। उस समय वहाँ संयम के पक्षपाती एक सज्जन और एक डाक्टर में बड़ा विवाद चल रहा था। संयमवादी सज्जन प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त और दूसरे उपायों के मानने के लिए तैयार नहीं थे किन्तु डाक्टर कृत्रिम उपायों का मानने वाला था। उसी समय से मैं कुछ दिनों तक कृत्रिम साधनों का पक्षपाती रहा और बाद को उनका कट्टर विरोधी बन गया। इधर मैं देखता हूँ कि कुछ हिन्दी के समाचार पत्रों में सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों का वर्णन बड़े नंगे रूप में किया गया है। इस अनुचित और अश्लील ढंग से सुरुचि को आघात पहुँचाता है। एक लेखक ने तो मेरा नाम भी बेधड़क होकर सन्तति-निग्रह के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग करने के समर्थकों में दे दिया है। मुझे ऐसा एक भी अवसर याद नहीं है जब कि मैंने कृत्रिम साधनों के पक्ष में कभी कोई बात कही या लिखी हो।"

"सन्तति-निग्रह की आवश्यकता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। उसका तो युगानुयुग से केवल एक ही उपाय चलता आया है—और वह उपाय है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य। यह वह राम-बाण औषधि है, जिसका सेवन करने से प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होगा। डाक्टर लोग यदि सन्तति-निग्रह के लिए कृत्रिम उपाय खोजने के बदले आत्म-संयम के साधन प्रचलित कर दें, तो सचमुच मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। स्त्री-पुरुष के सम्मिलन का उद्देश्य सम्भोग नहीं; किन्तु सन्तानोपत्ति है। जब सन्तानोपत्ति की इच्छा न हो तो सम्भोग करना पाप है।"

"कृत्रिम साधनों का समर्थन करना मानो पाप-पथ की ओर जाने के लिए लोगों का उत्साह बढ़ता है। इससे स्त्री-पुरुष दोनों उच्छृङ्खल हो जाते हैं। जिस ढंग से सन्तति-निग्रह के लिए इन कृत्रिम साधनों को महत्व दिया जा रहा है, उससे संयम का मार्ग अवरुद्ध होगा। भोग और विलासिता में वृद्धि होगी। कृत्रिम उपायों से नपुंसकता और मानसिक निर्बलता बढ़ेगी। यह हवा बीमारी से भी खराब, और अनिष्ट-कारी सिद्ध होगी। अपने कर्मों से बचने का उपाय करना अनीति है। और पाप है। जो आदमी आवश्यकता से अधिक खा लेता है, उसके लिए यही अच्छा है कि उसके पेट में दर्द हो और उसे उपवास करना पड़े। जिह्वा को वश में न रख कर मनमाने ढंग से ठूँस-ठूँस कर पेट भर लेना, और फिर तरह-तरह की दवाएँ खाकर उसके परिणाम से बचने का प्रयत्न करना बुरा है। पशु की तरह विषय-भोग में लिप्त रह कर उसके फल से बचना तो और बुरा है। प्रकृति का शासन बहुत ही कठोर है। उसका अनुशासन सैनिक है। अपना नियम भंग होने पर वह बड़ी कड़ाई से बदला लेती है। नैतिक फल तो नैतिक संयम से ही मिल सकते हैं। दूसरे प्रकार के संयमों से तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। कृत्रिम साधनों के समर्थक तो आरम्भ से ही यह मानते हैं कि जीवन के लिए भोग आवश्यक है। इससे अधिक गलत तर्क और भ्रामक विचार और क्या हो सकता है?"

"जो लोग संतति-निग्रह के लिये उत्सुक हैं उन्हें चाहिये कि प्राचीन ऋषियों के द्वारा चलाये गये उचित उपायों की खोज करें और उनके प्रचार की व्यवस्था सोचें। उनके आगे बहुत से काम पड़े हैं। बाल-विवाहों से सहज ही में जनसंख्या बढ़ रही है। हमारा वर्तमान रहन-सहन भी वेरोक सन्तानोत्पत्ति का एक बहुत बड़ा कारण है। यदि इन कारणों की जाँच-पड़ताल की जावे और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जावे तो हमारा समाज नैतिक दृष्टि से बहुत ही ऊँचा उठ जावेगा।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यदि हमारे इन जल्दबाज और अधीर उतनाही लोगों ने उनकी ओर से आँखें बन्द कर लीं और चारों ओर कृत्रिम साधनों का ही बाजार गर्म रहा; तो नैतिक पतन के अतिरिक्त कोई परिणाम न होगा।"

"हमारा समाज पहिले ही से अनेक कारणों से निर्बल, पंगु और अपाहिज बना रहा हैं। इन कृत्रिम साधनों के प्रयोग से तो वह और भी अधिक निःसत्व तथा प्राण-हीन बन जावेगा। इसलिये वे लोग जो बिना सोचे-समझे कृत्रिम साधनों का प्रचार कर रहे हैं, नये सिरे से इस विषय का अध्ययन और मनन करें और अपनी कुत्सित करतूतों से बाज आवें तथा विवाहित और अविवाहित दोनों ही तरह के लोगों में ब्रह्मचर्य-पालन की भावना जगाने में जुट पड़ें। सन्तति-निरोध का यही एक मात्र ऊँचा और सीधा रास्ता है"

---

(४) मनोविकारों का निराकरण

मनुष्य को संयम की ओर से हटा कर भोग-विलास की ओर प्रेरित करने वाले उसके मनोविकार ही हैं। मनोविकारों के कारण मनुष्य व्यग्र रहा करता है। यदि इन पर कोई विजय प्राप्त कर लें तो वह पूर्ण संयमी बन कर अपना जीवन सुखमय बना सकता है। महात्मा गांधी के सुविचार इस ओर अधिक सहायक होंगे—

कलकत्ते के एक विद्यार्थी पूछते हैं कि—

'कोई अपनी पत्नी के साथ शुद्ध व्यवहार रखे अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करे तो क्या उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय होगा? अपढ़ पत्नी को वह ब्रह्मचर्य की महिमा किस प्रकार समझा सकता है? उसे संयम-धर्म कैसे सिखा सकता है? ऐसा करने में उसे सफलता कहाँ तक मिलेगी?

समाज के आज के दूषित वातावरण में पत्नी को भ्रष्ट होने से कहाँ तक बचाया जा सकता है?"

"मेरा और मेरे साथियों का अनुभव तो यह है कि पति एवं दोनों यदि स्वेच्छा से 'ब्रह्मचर्य' का पालन करें, तो अत्यधिक सुख-शान्ति पा सकते हैं। इस प्रकार उन्हें अपना सुख नित्य बढ़ता हुआ जान पड़ेगा अशिक्षित पत्नी को ब्रह्मचर्य की महिमा समझाने में कोई अड़चन नहीं होती। या यों कहिये कि ब्रह्मचर्य शिक्षित और अशिक्षित का भेद नहीं जानता। ब्रह्मचर्य तो केवल हृदय के बल की बात है। मैं ऐसी अपढ़ स्त्रियों को जानता हूँ कि जो विवाहिता होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं। समाज के चित्त को चंचल कर देने वाले वातावरण में भा-जो पति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह अपनी पत्नी के शील की रक्षा करने में अधिक समर्थ हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अभाव पत्नी का भ्रष्ट होने से बचा तो नहीं सकता; पर उसके भ्रष्टाचार का परदा अवश्य बन जाता है। इसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।"

"ब्रह्मचर्य की शक्ति अपरिमित है। बहुतेरे उदाहरणों में मुझे वह अनुभव हुआ है कि 'ब्रह्मचर्य, का पालन करने वाला स्वयं 'विकार' से मुक्त नहीं होता; इसी से उसके प्रयत्न का प्रभाव पत्नी के ऊपर नहीं पड़ सकता। 'विकार' बड़ा चालाक होता है। अतः उसे अपने भाई-बन्दों को पहिचानने में उसे देर नहीं लगती। जो पत्नी अभी विकार-रहित नहीं हुई, जो विकारों के त्याग के निमित्त अभी तैयार भी नहीं हुई है, वह पति के हृदय में छिपे हुए विकारों को तुरन्त पहिचान लेती हैं और उसके ढीले और निष्फल प्रयत्न पर मन-ही-मन हँसती हुई स्वयं निर्भय रहती है। जो ब्रह्मचर्य अविचल है और जिसमें शुद्ध प्रेम भरा हुआ है, वह ब्रह्मचर्य अपने सामने वाले के विकार को जला कर भस्म कर देता है। इसमें किसी को किसी प्रकार की कोई शंका नहीं करनी चाहिये।"

"वेलूर-मठ में बहुत-सी मूर्तियों का संग्रह है। उसमें एक ऐसी मूर्ति मैंने देखी है, जिसके शिल्पी ने काम को 'बिच्छू' बनाया है। उसने एक कामिनी को डंक मारा है। जो उसके कष्ट से विह्वल होकर बिलकुल नंगी हो गई है। बिच्छू अपनी इस विजय पर इतराता हुआ कामिनी के पैर के पास खड़ा है और उसकी ओर देख कर हँस रहा है। जिस पति ने इस बिच्छू पर विजय पा ली, उसकी आँखों में, उसके स्पर्श में, उसकी वाणी में ब्रह्मचर्य की शीतलता होती है। वह अपने निकट रहने वालों के विकारों को क्षण-मात्र में ठंढा करके शान्त कर देता है।"

मनोविकारों के जन्म लेने में शिशुओं में इसके प्रश्रय पाने में हमारे माता-पिता का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रहता है। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी को भेजे गए एक पत्र में एक शिक्षक महोदय लिखते हैं कि—

"आपने नवयुवकों के दोष के सम्बन्ध में लिखा है उसके लिए मुझे तो उनके माँ-बाप ही जिम्मेदार मालूम पड़ते हैं। बड़ी अवस्था वाले बच्चों के माता-पिता भी, जो बच्चे पैदा करते जाते हैं इसका परिणाम क्या होगा? ऐसे ब्याह को व्यभिचार कहना क्या अनुचित होगा? एक बच्चा अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् पिता के पास सोया करता था। कुछ दिनों बाद पिता ने दूसरा ब्याह कर लिया, और नई पत्नी के साथ भीतर से किवाड़ बन्द करके सोने लगे। बच्चे को कुतूहल हुआ विकार का जन्म हुआ उसने सोचा "पिताजी अब हमें अपने पास क्यों नहीं सोने देते? मेरी माँ जब जीती थी तब तो हम तीनों जने एक साथ सोते थे। अब नई माता के आने पर पिता जी मुझे साथ क्यों नहीं सुलाते? बच्चे का कुतूहल इस प्रकार बढ़ता ही गया। उसने किवाड़ की दरार में से झाँक कर देखने की सोची। दरार में जो दृश्य उसने देखा उसका उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा?

पर समाज में सदैव ऐसी बातें तो होती ही रहती हैं। यह उदाहरण मेरे मस्तिष्क की उपज नहीं है। यह तो एक १३-१४ वर्ष के बालक से सुनी-सुनाई बात है। जो जन समाज बचपन में ही इस प्रकार आत्म-नाश के रास्ते पर लगेगा वह स्वराज्य ले कर क्या करेगा और पाकर क्या उसकी सुरक्षा में अपने को समर्थ बल-शाली पा सकेगा? हर एक माँ-बाप, शिक्षक, गृह-पति, बालचर मंडल का नायक ऐसा न होने देने को सावधानता रखे, तो कैसा हो। छोटी उम्र में ब्रह्मचर्य का अर्थ समझना अक्सर कठिन होता है। बहुत से लड़कों को बटोर कर ब्रह्मचर्य पर व्याख्यान देने से यह बात कहीं अच्छी जान पड़ती है कि हर एक बालक का विश्वास भाजन और सच्चा मित्र बन कर इसका यत्न किया जाय कि बचपन में ही उसका मन सदाचार की ओर झुक जाय। बच्चे के मन में कुविचार का प्रवेश ही न हो। इसका कोई उपाय तो होगा ही?

"अब बड़ी उम्र वालों की बात सुनिये जो समाज, जो जाति, गैर बिरादरी की स्त्री के हाथ का भोजन करने वाले को जाति से बाहर कर देती है। वही जाति और वही समाज पर स्त्री का संग करने वाले का बहिष्कार क्यों नहीं करता? जो जाति राजनैतिक सभा सम्मेलनों में अछूतों के साथ बैठ आने वाले को दण्ड देती है वही व्यभिचारियों को दण्ड क्यों नहीं देती? इसका कारण तो मुझे यही जान पड़ता है कि आत्म-शुद्धि करने बैठे, तो हर एक जाति की देह बहुत दुर्बल हो जाये। दुबली पतली देह में भी बलवान आत्मा रह सकती है। इसका ज्ञान उसे कहाँ है। बहुत-सी जातियों के मुखिया चौधरी तक शराब या व्यभिचार के वासन में फँसे होते हैं। इस लिये अपने ही पावों पर कुल्हाड़ी मारने के डर से वे उस ओर से तो आँखें बन्द किये रहते हैं और दूसरों को बिरादरी से बाहर करने के लिये हर दम कमर कसे तैयार रहते हैं। यह समाज कब सुधरेगा? जिस देश को राजनैतिक उन्नति करनी हो, वह

पहिले अपनी सामाजिक उन्नति करले, तो उसकी राजनैतिक उन्नति आकाश कुसुम जैसी ही है।"

"यह लेख बहुत तथ्य है यह तो सभी स्वीकार करेंगे—बच्चों के बड़े हो जाने पर उसी पत्नी से या वह मर जाय तो नया घर बसा कर बच्चे पैदा करने से बच्चों की हानि होती है। इसे मनवाने के लिये दलीलों की आवश्यकता नहीं; पर इतना संयम यदि न हो सके तो मां पिता को तो इतना तो करना ही चाहिये कि बच्चों को अलग कमरे में रखे, या स्वयं ऐसी जगह में सोये कि जहाँ से बच्चे कुछ न सुन सकें और न देख सकें। इसमें सभ्यता की रक्षा तो होगी ही। बचपना सर्वथा निर्दोष निर्विकार होना चाहिये; पर माँ-बाप विलासिता के वश में हो कर उसे दोष-मय बना देते हैं। वानप्रस्थाश्रम की प्रथा बालकों को नीति-मान, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाने में बहुत ही उपयोगी हो सकती है।"

"शिक्षकों के लिए लेखक ने जो सूचना दी हैं, वह उचित तो है ही; परन्तु जहाँ ५०-६० बालकों की एक कक्षा हो, वहाँ शिष्यों के साथ शिक्षक का सम्बन्ध अक्षर-ज्ञान देने भर का होता है। वहाँ शिक्षक यदि चाहे भी तो विद्यार्थियों के साथ आध्यात्मिकता का सम्बन्ध कैसे जोड़ सकता है? फिर जहाँ पाँच-सात शिक्षक पाँच-सात विषय सिखाते हैं; वहाँ बालकों के सदाचार का उत्तरदायित्व कौन लेगा, और फिर ऐसे शिक्षक ही कितने मिलेंगे जो बालकों को सदाचार के पथ पर लाने या उनका विश्वास-भाजन बनने की योग्यता रखते हों। इसमें तो शिक्षा का सारा प्रश्न उपस्थित हो जाता है; पर उसकी चरचा का यह स्थान नहीं है।"

"समाज भेड़ों के झुण्ड की भाँति बिना सोचे, बिना इधर-उधर देखे आगे बढ़ता जा रहा है; और कुछ लोग इसी को प्रगति मानते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि स्थिति ऐसी भयानक है तो भी हमारा वैयक्तिक रास्ता आसान है। उन्हें अपने क्षेत्र में जितना बन पड़े;

उतना नीति का प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले तो अपनों ही में उसका प्रचार करें। दूसरों के दोष देखते समय हम खुद बहुत भले से लगने लगते हैं; पर अपने दोषों को देखें; तो हम स्वयं हमीं को कुटिल और कामी दिखाई देंगे। दुनियाँ का काजी बनते समय हमें स्वयं अपना काजी बनना अधिक लाभ-दायक होता है और वैसा करते हुए हमें दूसरों के लिये भी रास्ता मिल जाता है। 'आप भले तो जग भला का एक अर्थ यह भी है। गोस्वामी तुलसी दास ने संत-पुरुष को जो पारस-मणि कहा है, वह गलत नहीं है। सन्त-पद प्राप्त करने का प्रयत्न करना हम सबका प्रधान कर्त्तव्य है। सन्त होना किसी अलौकिक पुरुष के लिये आकाश से उतरा हुआ प्रसाद नहीं है बल्कि हर आदमी का कर्त्तव्य है। यही जीवन का रहस्य है।"

"काम-विकार" को जीतने वाले एक प्रयत्न शील भाई लिखते हैं" कि—

"आपकी 'आत्म-कथा' का प्रथम भाग पढ़ने से बहुत-सी काम की बातें ज्ञात हुई हैं। आपने कोई बात छिपा नहीं रखी है, इसलिये मैं भी आज से कोई बात नहीं छिपा रखना चाहता। 'नीति-नाश को ओर' पुस्तक भी पढ़ी। इससे यह मालूम हुआ कि विषय-वासना को जीतना खासतौर से क्यों जरूरी है? पर यह वासना इतनी बुरी है कि योग वाशिष्ठ और स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ते समय तो सब कुछ निस्सार जान पड़ता है; पर उन्हें बन्द किया नहीं कि विषय-वासनाएँ आ घेरती है। आँख, कान, नाक, जीभ को तो किसी तरह जीत भी सकते हैं, क्योंकि आँखों के बन्द करते ही उसके विषयों का अभाव हो जाता है। दूसरी इन्द्रियों के साथ भी ऐसा कर सकते हैं। परन्तु जननेन्द्रिय का मार्ग निराला है। जब वह सताती है तब जान पड़ता है, मैंने जो कुछ पढ़ा, उसका कुछ भी जैसे मूल्य न हो। मेरा आहार सात्विक है। एक ही समय खाता हूँ। रात में केवल

दूध पर रहता हूँ। फिर भी काम-वासना किसी तरह नहीं जाती। इसका कारण समझ में नहीं आता। गीता में श्री कृष्ण भगवान ने एक जगह कहा है—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रस वर्ज्यं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते"॥

भावार्थ यह है कि "आहार न करने वाला देह-धारी आदमी इन्द्रियों के विषयों से तो मुक्त हो जाता है; परन्तु विषयों की आसक्ति से मुक्त नहीं होता। उससे निवृत्ति तो परमात्मा के दर्शन होने से ही होती है।"

"इस प्रकार जब ईश्वर के दर्शन हों तभी विषयों की आसक्ति से छुटकारा मिल सकता है। और चूँकि ईश्वर के दर्शन हो नहीं सकते, इसलिए विषयों से निवृत्ति भी नहीं हो सकती। यह है मेरी परेशानी, ऐसी दशा में क्या किया जाय! क्या आप मुझ-जैसे विषय-जाल में फँस जाने वाले को कोई रास्ता नहीं बतायेंगे।"

"ऐसे साधु-संत अवश्य होंगे, जो ऐसे जनों को रास्ता बता सकें; पर वे मुझे मिलेंगे कैसे? क्योंकि आज-कल तो यह जानना ही कठिन है कि सच्चा साधु है कौन?"

"इस जिज्ञासा का उत्तर कृपा कर 'नव-जीवन' द्वारा दें, जिससे कोई सही और ठीक रास्ता पकड़ा और प्रभु को पाने मे विघ्न के विषयों को को जीता जा सके।"

"अधिक दिनों से यह बात पूछने को आप से जी चाहता था, पर हिम्मत न होती थी। मगर जब आपकी आत्म-कथा पढ़ी तो जान पड़ा कि ऐसी बातों का पूछना आपसे अनुचित न होगा। यह भी समझ में आया कि प्रभु की प्राप्ति के मार्ग में जो कठिनाइयां दिखाई दें, उनका उपाय पूछने में लज्जा न करनी चाहिये।"

"जो दशा इस भाई की है; वही बहुतों की है। काम को जीतना

कठिन अवश्य; पर अशक्य नहीं है। परन्तु जो काम को जीत लेता है और संसार-सागर को तर जाता है। यह भगवान का वचन है। इससे हम जान सकते हैं कि काम को जीतना दुनिया में सबसे कठिन बात है। ऐसी वस्तु को पाने के लिए धीरज की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसे काम-जय का प्रयत्न करने वाले सभी लोग स्वीकार नहीं करते। अक्षर-ज्ञान के अभ्यास में अध्यवसाय, धीरज और ध्यान की कितनी बड़ी जरूरत है इसे हम ही नहीं, सभी जानते हैं। उस पर से त्रिराशि का हिसाब लगायें; तो हमें मालूम हो जाय, कि अक्षर-ज्ञान की प्राप्ति में धीरज आदि की जितनी आवश्यकता होती है, काम को जीतने में उससे अगणित गुना अधिक धीरज अपेक्षित है।"

"यह तो हुई धीरज की बात; पर काम के जीतने के उपाय के विषय में भी तो हम इतने ही उदासीन रहते हैं। साधारण सी एक बीमारी को हटाने के लिए तो हम सारी दुनिया को छान डालते हैं। डाक्टरों के यहाँ दौड़ते-दौड़ते एड़ियाँ घिस डालते हैं। जन्तर-मन्तर भी तो नहीं छोड़ते। पर काम की महाव्याधि से छूटने के लिए हम सब उपाय नहीं करते। थोड़ा उपचार किया कि थक कर बैठ जाते हैं और उलटा ईश्वर या औषधि बताने वाले के साथ यह शर्त करने लगते हैं। कि इतनी चीजें तो हमसे नहीं छूटने की, फिर भी आप हमारा काम-विकार मिटा दें। इसका फल यह हुआ कि काम-विकार से छूटने के लिये हमारे भीतर सच्ची व्याकुलता नहीं है। उसके लिये सर्वस्व त्याग करने का हम तैयार नहीं। यही शिथिलता विजय-प्राप्ति के मार्ग में सब से बड़ा बाधा है। यह सही है कि निराहार रहने वाले के विकार दब जाते हैं; पर आत्म-दर्शन के बिना आसक्ति नहीं जाती; पर उक्त श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि काम को जीतने में निराहार व्रत से कोई सहायता नहीं मिलती। उसका मतलब तो यह है कि निराहार रहते हुये कभी थके नहीं और ऐसी दृढ़ता तथा लगन से ही आत्म-दर्शन हो सकता है वह

हो जाने पर आसक्ति भी चली जायगी। ऐसा अनशन किसी के कहने से नहीं किया जा सकता यह दिखाने के लिये भी नहीं किया जा सकता। इसमें तो मन, वचन और काया तीनों का सहयोग होना चाहिये। यह होने पर प्रभु का प्रसाद अवश्य प्राप्त होगा और वह मिल गया; तो अन्त में विकारी भावना, शांति हो कर ही रहेगी।"

"पर निराहार से पहिले और बहुत से उपाय करने होते हैं। उनसे विकार शान्त न हुए तो ढीले जरूर पड़ जावेंगे। भोग-विलास के प्रसंग-मात्र का त्याग कर देना चाहिये। उनकी ओर से मन में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिये, इसलिए कि अरुचि पर विराग के बिना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण वह टिकाऊ न होगा। भोग-विलास किसे कहें यह बताने की आवश्यकता न होनी चाहिये। जिस-जिस वस्तु से विकार उत्पन्न हो; वे सभी त्याज्य हैं।"

"आहार का प्रश्न इस विषय में बहुत ही विचारणीय है। मेरी अपनी राय यह है कि जो अपने विकारों को शान्त करना चाहता हो उसे घी-दूध का प्रयोग-उपयोग थोड़ा ही करना चाहिये। वन-पक्व अन्न खाकर यदि निर्वाह किया जा सके; तो आग पर पकाई हुई वस्तुयें न खाई जायें या उन्हें थोड़ी मात्रा में खाया जावे। फल और बहुत सी साग-सब्जी, कच्ची, बिना पकाये खाई जा सकती हैं और खानी चाहिये। हाँ कच्ची सब्जी की मात्रा कम अवश्य हो। दो-तीन तोला कच्ची सब्जी शरीर के आवश्यक पोषण के लिये काफी है। मिष्टान्न और मिर्च-मसाले बिलकुल ही छोड़ देने चाहिये। अहार के विषय में मैं इतनी सूचनायें दे रहा हूँ कि जिससे विकार उत्पन्न नहीं हो सकेंगे; किन्तु मैं जानता हूँ कि केवल आहार के संयम से ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता और निर्विकार नहीं बनाया जा सकता; इसके विपरीत विकारतेजक वस्तुयें खाने-पीने वालों को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की किंचित आशा ही नहीं रखनी चाहिये।"

"विलियम और थर्स्टन नाम के लेखक ने विवाह-विषयक जो पुस्तक लिखी है वह इस योग्य है कि हर स्त्री-पुरुष उसको ध्यान पूर्वक पढ़े समझे। हमारे देश में १५ साल के लड़कों से लेकर ५० वर्ष तक के पुरुषों और इसी अवस्था की या लगभग इसी के लड़कियों और स्त्रियों को भी यह धारणा रहती है कि सम्भोग अनिवार्य है। उसके बिना रहा ही नहीं जा सकता। इससे दोनों विह्वल रहते हैं।" पाठशालाओं में अधिकांश बालक परस्पर ही कामुकता में पड़कर अप्राकृतिक दुष्कर्मों में फँस कर परेशान होते रहते हैं।" इस प्रकार एक को दूसरे का विश्वास नहीं रहता। स्त्री को देख कर पुरुष का दिल उसके हाथों में नहीं रहता और पुरुष को देखकर स्त्री की भी वही दशा हो जाती है।" बालक बालक को देखकर सौंदर्य को खिलौना समझते और उसे असमय ही तोड़ने फोड़ने एवं कुरूप करने का प्रयत्न करते दिखलाई पड़ते हैं।" इस प्रकार काम-वासना के एक तरह के रिवाज सा हो जाने के कारण सभी निर्बल, निरुत्साही, और रोगी हो रहे हैं। हमारा जीवन इतना हीन हो गया है जितना मनुष्य-जीवन को हीन न होना चाहिये।"

"इस वातावरण में लिखे हुए शास्त्रों में भी ऐसा आदेश और विश्वास देखने में आते हैं जिनके फल-स्वरूप स्त्री-पुरुष को परस्पर ऐसा व्यवहार रखना पड़ता है जैसे वे एक दूसरे के शत्रु हों; कारण यह कि एक को देख कर दूसरे का मन बिगड़ जाता है। पर बिगड़ जाने का डर रहता है।"

"इस धारणा और उसके आधार पर बने रिवाजों की बदौलत जीवन पर तो विषय-भोग में पर उसके झूठे सपनों के देखने में चला जाता है और दुनिया हमारे लिये जहर सी कड़ुवी हो जाती है।"

"होना तो यह चाहिये था कि मनुष्य में भला-बुरा, सोचने और समझने की शक्ति होती है, इसीलिये पशुओं की तुलना में इसमें अधिक त्याग-शक्ति और संयम हो। पर हम नित्य प्रति देखते हैं

कि नर-मादा के संयोग की मर्यादा का पशु जितना पालन करता है; मनुष्य उतना नहीं करता। सामान्य रीति से स्त्री-पुरुष के बीच माँ-बेटे, भाई-बहिन या बाप-बेटी का और इसी प्रकार पुरुषों में भी बाप-बेटे और भाई-भाई का खुला सम्बन्ध होना चाहिये या यह तो खुली बात है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध तो स्पष्टतः अपवाद रूप में ही हो सकता है और अगर भाई से बहिन के या बहिन से भाई के अथवा परस्पर भाई के डरने का कारण हो सकता हो; तो पुरुष दूसरी स्त्री से या स्त्री दूसरे पुरुष से तथा भाई-भाई से ही डर सकता है। पर इसके विपरीत स्थिति यह है कि भाई-बहिन और भाई-भाई को ही आपस में संकोच रखना पड़ता है और यही नहीं; रखना उन्हें सिखाया भी जाता है।"

"इस दयनीय दशा अर्थात् विषय-वासना की सड़ांध से भरी हुई हवा से निकल जाना हमारे लिये निहायत जरूरी है। हमारे अन्दर इस विचार ने जड़ जमा ली है कि इस वासना से निकलना असम्भव बात है। उसकी जड़ उखाड़ देना ही पुरुषार्थ है और वह हमसे हो सकने वाली बात है। यह दृढ़ विश्वास हमारे हृदय में उत्पन्न होना चाहिये"

इस पुरुषार्थ के करने में श्री थर्स्टन की नन्हीं सी पुस्तक से बड़ी मदद मिलेगी। लेखक की यह खोज मुझे तो ठीक जान पड़ती है कि अस्वाभाविक कामवासना की जड़ विवाह विषयक वर्त्तमान धारण और उसके आधार पर रचित प्रथाएँ हैं। जो पूर्व-पश्चिम सर्वत्र व्याप्त रही है। स्त्री-पुरुष का रात में एकान्त में एक कमरे में और एक बिस्तर पर सोना और बालकों का भी इसी प्रकार हास्टलों में रहना दोनों लिये घातक और काम-वासना को व्यापक तथा सार्वजनिक वस्तु बना देने का जबरदस्त साधन है। एक ओर तो सारी विवाहित दुनिया इसी नियम का अनुसरण करे और दूसरी ओर धर्मोपदेशक और सुधारक संयम से रहने का उपदेश करें। यह आसमान में 'थिगली' लगाना नहीं

तो और क्या है—ऐसे विषय-वासना से भरे हुये इस वातावरण में संयम के उपाय व्यर्थ जायँ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं कि समागम केवल संतान की कामना से ही होना चाहिये।"

"इस आज्ञा का उल्लंघन हम प्रतिक्षण किया करते हैं, फिर भी जब रोग हमें सताते हैं तो उनके कारण दूसरी जगह ढूँढ़े जाते हैं। इसी से कहते हैं—'गोद में लड़का और नगर में ढिंढोरा।' इस सूर्य के प्रकाश जैसी बात को हमने समझ लिया हो; तो—

१—हर एक पति-पत्नी तथा हर व्यक्ति आज से प्रतिज्ञा कर लें कि हम एकान्त में न सोयेंगे और दोनों की इच्छा हुये बिना सन्तानोत्पादन के व्यापार में न लगेंगे। जब सम्भव हो; तो दोनों अलग-अलग कमरों में सोयें। यदि गरीबी के कारण यह सम्भव न हो; तो पति-पत्नी दूर-दूर और अलग-अलग खाटों पर सोयें और बीच में किसी मित्र या अन्य कुटुम्बी जन को सुला लें।

२—समझदार माता-पिता अपनी पुत्री को ऐसे घर में देने से साफ़ इनकार कर दें—जहाँ उसे अलग कमरा और खाट न मिल सके। व्याह एक प्रकार की मित्रता है। स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के दुःख-सुख के साथी बनते हैं, पर व्याह हो जाने के मानी यह नहीं है कि पति-पत्नी सुहाग-रात को ही विषय-भोग में आकंठ निमग्न हो कर अपनी बर-बाद जिन्दगी के लिये कब्र खाद लें। यह शिक्षा लड़के और लड़कियों को अनिवार्य रूप से मिलनी चाहिये।"

"फर्स्टन की खोज स्वीकार करने का अर्थ यह है कि उसके मन में जो नई, आश्चर्य जनक, कल्याण-कर और शान्ति-दायिनी कल्पना-निहित है। उस पर मनन किया जाय और व्याह के विषय में प्रचलित विचारों में जो परिवर्तन आवश्यक है उसे समझ लें—तभी इस खोज का लाभ हमें मिल सकेगा। जो लोग इस खोज को हजम कर सके हों

वे बाल-बच्चे वाले हों; तो अपने बच्चों की शिक्षा और घर का वातावरण बदल दें।"

"यह समझने के लिये हमें फर्स्टन की शहादत की जरूरत न होनी चाहिये कि हम विषय-सुख भोगते हुये भी बच्चों के बोझ से बचे रहें। इसके लिये जिन बनावटी उपायों का जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है; वे अति हानिकर हैं। यह उपाय हिन्दुस्तान जैसे देश में चल कैसे सकते हैं—यही समझना कठिन है। पढ़े-लिखे लोग हिन्दुस्तान के दुर्बलता भरे वातावरण में इन उपायों से काम लेने की सलाह कैसे देते हैं? मेरी बुद्धि में यह बात आती ही नहीं।"

मनोविकार जब तक मन में स्थित रहेंगे; वह चंचल और चलायमान रहेगा। कोई भी संयम हो ही नहीं सकता। इसको ध्यान में रख कर हर स्त्री-पुरुष को मनोविकारों से बचने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। विवाहितों को संयम और अविवाहितों को और कड़ा संयम रख कर काम-वासना का शिकार न होना चाहिये। जब तक ऐसी व्यवस्था न होगी; तब तक सर्वनाश जारी रहेगा। मन जहाँ चंचल हुआ, वीर्यपात की कामना शरीर में सर्व-व्यापक बन जाती और शरीर में एक प्रकार की सनसनाहट सी उत्पन्न होती, नशा उतर जाने पर शरीर में शिथिलता आ जाती और शक्ति जाती रहती है। यदि मानव को मानव बना रहना है; तो वह मनोविकारों से बचते चलें और संयमी जीवन व्यतीत करने का प्रण करें—उन्हें यह समझना चाहिये कि संसार में हम केवल भोग-विलास और काम-वासना की तृप्ति के लिये ही नहीं आये हैं। हमें इस बंधन से आगे बढ़कर बहुत कुछ करना है। भगवान का चिन्तन और स्तवन साथ ही देश का कार्य-परोपकार-शक्ति-संचय इतना ही नहीं संसार-सागर से पार जाने का उपाय करना है। यह तभी हो सकता है—जब हम भोग-विलास की सामग्री से बच कर सात्विक जीवन व्यतीत करें। स्त्री-पुरुष, बालक, युवा, युवती सभी ऐसा

उपचार करें कि भारत एक शान्त, तपस्या-स्थल बन जावे। इतना ही नहीं बालक-बालिकायें भाई-बहिन की तरह ऋषि कुलों में जीवन व्यतीत करें। हमारे वर्त्तमान विद्यालयों को प्राचीन गुरु-कुल बनना है—गुरुओं को प्राचीन गुरु के पद पर आसीन होना है। ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है यह सब सम्भव है। यदि इच्छाओं का दमन करके शुद्ध और स्वस्थ वातावरण कर लिया जावे तो।

रोगों का मूल कारण

(क) जनन, (ख) प्रजननन, (ग) अप्राकृतिक व्यभिचार

आज-कल लड़के-लड़कियों के सर्वप्रथम तो विवाह की चरचा चलती है। विवाहोपरान्त सन्तानोत्पत्ति की मशीनरी यदि शीघ्र न चालू हुई; तो तंत्र-मंत्र-झाड़-फूँक, दवा-दारू, दर्शन-परसन, ओझा वैद्य सब के दरवाजे खटखटाये जाने लगते हैं। हम आँख बन्द किये विनाश की ओर बराबर अग्रसर होते जाते हैं—कीड़े-मकोड़ों की तरह हमारी संतानें बढ़ने लगती हैं। रोगों का मूल कारण भी यही है। यदि विवाह न हुआ, अथवा हुआ भी तो क्या—बुरी संगति में पड़ कर बहुतेरे बालक एवं बालिकायें अप्राकृतिक दुष्कर्मों से अपने शरीर की पारस-मणि को अपने ही हाथों सत्यानाश के घाट पर उतारते चले जाते हैं इसका कुछ ठिकाना नहीं। भगवान ही रक्षा करे इस सम्बन्ध में यदि हम लोग सावधान न हुये और संयम से काम न लिया; तो मानव-जाति का सर्वनाश निश्चित है।

विलियम आर फर्स्टन नाम के अमेरिकन लेखक ने 'विवाह का तत्वज्ञान' नाम की एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है, जिसे न्यूयार्क के टिफानी प्रेस और मद्रास की गणेशन कम्पनी ने भी प्रकाशित किया है। प्रकाशक के कथन के अनुसार श्री फर्स्टन, संयुक्त राज्य की सेना में

मेजर थे और लगभग दस वर्ष तक कार्य करके १९१९ में अवकाश ग्रहण किया। तब से आप न्यूयार्क नगर में ही रहते हैं। १८ साल तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, फिलीपाइन द्वीपपुंज, चीन और अमेरिका में विवाहित स्त्री-पुरुषों की स्थिति और विवाह के नियमों, प्रथाओं के प्रभाव का गहरा अध्ययन किया। अपने "निज के अवलोकन के अतिरिक्त वह प्रसूत-शास्त्र और स्त्री-रोगों के विशेषज्ञ सैकड़ों डाक्टरों से मिले और पत्र-व्यवहार करते रहे। इसके सिवा उन्होंने फौज में भरती होने के उम्मीदवारों की शरीरिक योग्यता की जाँच के परचों और सामाजिक आरोग्य-रक्षक मंडलों के इकट्ठे आँकड़ों का भी समुचित उपयोग किया है। लेखक ने सैकड़ों डाक्टरों से कैसे प्रश्न किये—और उनके उत्तर कैसे उसे मिले, यह उसने स्वयं बताया है—"

प्रश्न—आज-कल विवाहित स्त्री-पुरुषों के सगर्भावस्था में भी संभोग का रिवाज है या नहीं?" इस प्रश्न का उत्तर लगभग सभी डाक्टरों से यही मिला कि यह रिवाज है।

प्रश्न—"ऐसे संभोग से गर्भपात या असामयिक प्रसव और प्रसूता के रक्त में विष-प्रवेश की सम्भावना है या नहीं—"

उत्तर—"अवश्य है।"

प्रश्न—"इस प्रकार के संभोग के फल-स्वरूप बच्चों का विकलांग होना संभव है या नहीं—"

उत्तर—"बहुत से डाक्टर तो गर्भावस्था में भी कुछ महीनों तक संभोग की इजाजत देते ही हैं। वे इसके विरुद्ध सम्मति कैसे देते? परन्तु पच्चीस प्रतिशत डाक्टरों ने लिखा है कि विकलांग बच्चे पैदा होते हैं।"

प्रश्न—"विकृत अंग वाले बच्चे पैदा होने का कारण गर्भावस्था का समागम न हो, तो दूसरा क्या हो सकता है?"

उत्तर—इसके उत्तरों में बहुत ही मत-भेद है। बहुतेरे तो यही लिखते हैं "कि हम इसका कारण नहीं बता सकते।"

प्रश्न—"आज-कल की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ गर्भाधान रोकने के साधनों का व्यवहार सचमुच करती हैं!"

उत्तर—"हाँ"।

प्रश्न—"इन साधनों से और कुछ नहीं तो स्त्री की जननेन्द्रिय की अपार हानि होने की सम्भावना तो है ही।"

उत्तर—"७५ प्रतिशत डाक्टरों की राय में यह सम्भावना है।"

इसके अतिरिक्त लेखक ने कितने ही चौंकाने वाले आँकड़े दिये हैं, जो जानने योग्य हैं। सन् १९२० ई० में अमरीका की सरकार ने सेना में भरती होने वालों के शारीरिक दोषों के विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमें बताया गया है कि—

२५ लाख १० हजार आदमियों की फौज में भरती होने की योग्यता की जाँच की गई। उनमें १२ लाख ८९ हजार में कोई न कोई शारीरिक या मानसिक दोष निकला।

५ लाख ८९ हजार आदमी सेना-सम्बन्धी सभी कार्यों के लिये अयोग्य पाये गये।

इन उम्मीदवारों की अवस्था १८ से ४५ साल के बीच थी।

इतनी जाँच और अनेक देशों की स्थिति के अवलोकन के फलस्वरूप लेखक ने जो महत्वपूर्ण फल निकाले हैं; वे सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में नीचे दिये जा रहे हैं :—

१—"पुरुष, स्त्री को रोटी-कपड़े और रहने को घर देता है; इसलिये कि वह उसकी दासी बन कर रहे और चूँकि वह उसकी ब्याहता कहलाती है; इसलिए एक ही कमरे में रह कर या एक ही बिस्तर पर सोकर नित्य उसकी काम-वासना की तृप्ति का साधन बनती रहे। प्रकृति ऐसा कदापि नहीं चाहती।"

२—विवाह-बन्धन में बँधने से ही पुरुष की विषय-वासना की तृप्ति स्त्री पर कर्त्तव्य हो जाती है। यह मानने का रिवाज दुनिया में सब कहीं पड़ गया है। इस प्रथा के फल-स्वरूप स्त्री को रात-दिन अमर्यादित विषय-भोग का साधन बने रहना और विवाहित स्त्रियों में से सौ पीछे नब्बे को अंशतः वेश्या बन जाना पड़ता है। इस स्थिति के पैदा होने का कारण यह है कि वेश्या वृत्ति स्वाभाविक और उचित मान ली गई है; क्योंकि व्याह का क़ानून वही मानने को कहता है—पति का प्रेम बनाये रखने के लिये भी यह वृत्ति स्वीकार करना स्त्री पर फर्ज माना जाता है।

इस अंकुश-रहित विषय-भोग के अनेक भयावह परिणाम होते हैं:—

१—स्त्री का नाड़ी-संस्थान उसके दिल-दिमाग बहुत ही कमजोर होते जाते हैं। वह जवानी में ही बुढ़िया बन जाती है। उसका शरीर रोगों का घर और स्वभाव चिड़चिड़ा, अस्थिर, अशान्त हो जाता है। और वह बच्चों की सँभाल ठीक से नहीं कर सकती।

२—गरीबों के घर इतने बच्चे पैदा होते हैं कि उनकी पूरी परवरिश और सँभाल असम्भव होता है। ऐसे बच्चों को रोग लग जाते और बड़े होने पर वे चोर और उचक्के बनते हैं।

३—ऊँचे वर्ग वालों में निरंकुश विषय-भोग की खातिर गर्भाधान न होने देने और गर्भ-पात के साधन काम में लाये जाते हैं। इन साधनों से काम लेना साधारण-वर्ग की स्त्रियों को सिखा दिया गया; तो राष्ट्र रोगी, अनीतिमान और भ्रष्ट हो जायगा और अन्त में उसका विनाश होगा।

४—अति सम्भोग के फल-स्वरूप पुरुष का पुंस्त्व नष्ट हो जाता है। वह इस योग्य भी नहीं रह जाता कि मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह कर सके और अनेक रोगों के फल-स्वरूप उसे सबसे पहले ही परलोक का रास्ता लेना पड़ता है। अमरीका में आज विधुरों से

विधवाओं की संख्या बीस लाख अधिक है। उसमें उनकी संख्या थोड़ी ही है जो युद्ध के कारण विधवा बनी हैं। विवाहित पुरुषों का एक बड़ा भाग ५० वर्ष की अवस्था में पहुँचने के पूर्व ही निर्बल और जर्जर हो जाता है।

५—अधिक 'सहवास' के कारण स्त्री-पुरुष दोनों में एक प्रकार की हताशता आ जाती है और उनमें अपने-आपको व्यर्थ समझने का भाव उत्पन्न हो जाता है। दुनिया में जो आज इतनी गरीबी दिखाई देती है, बड़े नगरों में जो निर्धनों के मुहल्ले और गन्दी-अँधेरी गलियाँ हैं। उनका कारण पैसा मिलने वाले कामों का अभाव नहीं है, बल्कि वर्त्तमान विवाहों के नियमों के फलरूप निरकुश सम्भोग है।

६—गर्भावस्था में जो स्त्री को पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बनना पड़ता है। यह मानव-जाति के भविष्य के लिये अति भयावह है।

इस अवस्था का सम्भोग मनुष्य को पशु से भी हीन बना देता है। गाभिन गाय साँड़ को अपने पास कभी आने ही न देगी। फिर भी यदि साँड़ बलात्कार करे, तो वह गाय जो बछड़ा जनेगी उसके तीन या पाँच पाँव होंगे अथवा दो पूँछें या दो सिर होंगे। समस्त प्राणी-सृष्टि में अकेला मनुष्य ही यह मानता दिखाई देता है कि इस प्रकार के अत्याचार के पशुओं में जो परिणाम होते हैं वे मनुष्यों को भुगतने होंगे? इस धारणा के मूल में एक भ्रम है। वह यह कि पुरुष से बहुत दिनों तक अपनी विषय-वासना तृप्त किये बिना रहा ही नहीं जा सकता। इस भ्रम की जड़ भी साफ दिखाई देती है। जब वासनाओं को जगाने वाला साथी सदा अपनी बगल में मौजूद हो; तब पुरुष से भोग की भूख बुझाये बिना कैसे रहा जायगा?

पर डाक्टरों की रायों और अपने निजके अनुभव अवलोकन से भी जान लिया गया है कि गर्भाधान से पहिले अति सम्भोग अगर अनिष्ट मूलक है;

तो गर्भावस्था का संभोग तो सीधा नरक का द्वार है। इसके परिणाम-स्वरूप बच्चों में पागलपन तक की खराबी के पैदा हो जाने का डर रहता है और स्वयं स्त्री को अपार कष्ट होता है, क्योंकि गर्भधारण की दशा में किसी स्त्री को सम्भोग की इच्छा नहीं होती।

लेखक ने इसके बाद चीन, हिन्दुस्तान और अमरीका में एक ही कमरे में अनेक स्त्री-पुरुषों के सोने से जो अनीति और निर्वीयता फैल रही है, उसकी चरचा की है और इस बुराई की औषधि और चिकित्सा भी बताई है।

उसके बताये हुये कुछ उपाय तो ब्याह के कानून में सुधार करने के हैं; पर उसने ऐसे उपाय भी बताये हैं जिनका करना मनुष्य के हाथों में है। व्यवस्था तो जब सुधरनी होगी, सुधरेगी। परन्तु कुछ तो मनुष्य के अधिकार की बात है ही। यथा :—

१—सन्तान की कामना के बिना स्त्री-पुरुष का सम्भोग न होना चाहिये। इस प्राकृतिक ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार किया जावे।

२—स्त्री को सन्तान की इच्छा न हो; तो पुरुष को केवल उसका पति होने के नाते ही उसको स्पर्श करने का अधिकार नहीं मिलता। इस सिद्धान्त का सर्वसाधारण तक पहुँचाया जावे।

३—विवाह-बन्धन में बँधी होने के कारण ही पति के साथ एक ही कोठरी और एक ही बिछौने पर सोना स्त्री का कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि सन्तानोत्पादन के हेतु के बिना उसका इस प्रकार सोना अपराध है। इस ज्ञान का प्रचार अधिक मात्रा में किया जावे।

लेखक का कहना है कि "इन नियमों का पालन किया जावे, तो दुनिया के आधे रोग चले जावें, गरीबी चली जाये, रोगी विकलांग बच्चों का उत्पन्न होना बन्द हो जाये और स्त्री-पुरुष के जनकल्याण के लिये पुरुषार्थ करने का मार्ग उन्मुक्त हो जाये।

विवाह का तत्वज्ञान के लेखक ने उसे अपने मित्रों के पास प्रेमो-

पहार के रूप में भेजा होगा। उनमें से एक बहिन ने एक पत्र लिखा उसके उत्तर में लेखक ने दूसरी पुस्तिका लिख डाली, जिसमें उसके विचार अधिक स्पष्ट कर दिये गये हैं और अपने मत की पुष्टि अकाट्य दलीलों से अधिक सबल रूप में की गई है। यह पुस्तक पहले से भी, अधिक महत्व वाली और माननीय है।

उक्त बहिन के पत्र का आशय, थोड़े में इस प्रकार है—

"आपकी पुस्तक के लिये अनेक धन्यवाद। अतिशय विषय-भोग ही हमारे रोगों का मुख्य कारण है। इसे अचूक रूप में बताने वाली आपकी पुस्तक पहिली ही कही जा सकती है। काम-वासना यहाँ पुरुषों में भी होती है। कुछ महान पुरुष उससे मुक्त भी होते हैं और कितने ही साधारणजनों में वह अति प्रबल होती है पर सम्भोग की शारीरिक आवश्यकता कितनी है? मान ली हुई मानस आवश्यकता कितनी है? और केवल स्वभावजन्य आवश्यकता कितनी है? इसकी छान-बीन कर लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिये यह जान लेना जरूरी है कि ह्वेल के शिकार के लिये समुद्र में सुदूर गये हुये या ऐसे ही किसी अन्य कारणवश लम्बे अरसे तक स्त्री से अलग रहने वाले पुरुष के स्वास्थ्य पर इस विवशता के ब्रह्मचर्य का क्या प्रभाव होता है?"

"दूसरी बात यह है कि अतिशय विषय-भोग से होने वाली हानि को तो मैं स्वीकार करती हूँ पर क्या गर्भाधान रोकने के कृत्रिम साधन भी आवश्यक हैं? गर्भपात या अवैध सन्तान का जन्म देने के पाप से क्या यह अच्छा नहीं है कि बाह्य साधनों से काम लेकर सन्तानोत्पत्ति होने ही न दी जाय। प्रकृति के नियम के विरुद्ध चलने वाला मनुष्य जनन-निरोध के उपायों को काम लेने के फलस्वरूप दुनिया में अपना नाम-लेवा छोड़े बिना मर जाय तो इसमें समाज का क्या बिगड़ता है?"

"तीसरी बात, मान लीजिये हम सभी संयमी बन गये तो भी मोटे हिसाब से हर एक दम्पति के तीन से यदि अधिक बच्चे न हों, तभी

दुनिया की आबादी सीमा के भीतर रह सकती है और इसका अर्थ यह होता है कि सारी जिन्दगी में उन्हें दो-चार बार ही सम्भोग सुख भोगने का अवसर मिल सकता है। इतना संयम क्या साधारण मनुष्यों के वश की बात है? क्या स्वस्थ और बल-पौरुष सम्पन्न पुरुष एक लम्बी मियाद तक संयम रख सकता है?"

इस पत्र के उत्तर में लेखक ने जो पुस्तिका (दी ग्रेट सीक्रेट) लिखी; उसका सार अंश नीचे दिया जाता है—

"साधारण पुरुष में आहार की इच्छा के अतिरिक्त दो कामनायें और होती हैं—एक सती-सुन्दरी स्त्री के साथ सम्भोग का, दूसरी पुरुषार्थ की—अर्थात् धर्म, अर्थ और मोक्ष की। पहली कामना का तृप्त करने की इच्छा दूसरे की प्रेरणा करती है। बहुतों की पुरुषार्थ की कामना, ब्याह के पहले ही, सहज प्राप्त स्त्री के साथ अथवा अप्राकृतिक अमानुषिक कुकृत्यों से मर जाती या मंद पड़ जाती है। इससे काम-वासना की परितृप्ति होकर वह निर्बल पड़ जाती है। अधिकांश की ब्याह के पश्चात् दो-चार सालों में ही सम्भोग के अतिरेक से मर जाती या मंद पड़ जाती है। स्वस्थ और वीर्यवान पुरुष में सम्भोग की इच्छा प्रायः सदा बनी रहती है; पर पुरुषार्थ की कामना यदि बलवती हो जाय तो काफी लम्बे अरसे तक वह दब भी जाती है। आवश्यकता है केवल किसी महान लक्ष्य की। ऐसे लक्ष्य की—जिसकी सिद्धि में मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगा देने का संकल्प कर ले।

"ऐसे लक्ष्य अनेक हैं—एक सामान्य लक्ष्य तो उत्तम संतान पैदा करना ही है अपनी सहधर्मिणी की स्वाभाविक सन्तानेच्छा को तृप्त करके उसे प्रसन्न रख कर स्वस्थ संतान उत्पन्न करना और उसके पालन-पोषण, पढ़ाने-लिखाने, उसे योग्य नागरिक बनाने में लग जाने से विषय वासना को अपने आप विदा हो जाना चाहिये। परन्तु इन कर्त्तव्यों का पालन कर सकने के लिये जरूरी होगा कि उसका शरीर भरा हुआ

हो—वह शरीर से काफी मेहनत—मसक्कत करे। इसके अतिरिक्त उसे स्त्री के साथ एक खाट पर सोना भी बन्द करना होगा—दूसरा लक्ष्य है कीर्ति का लोक कल्याण करके या कोई बड़ा पराक्रम करके नाम कमाना। हो सकता है कि नाम कमा लेने के बाद मनुष्य यह भी चाहे कि उसे विषय सुख अच्छी तरह भोगने का मौका मिले परन्तु कीर्ति की लालसा उस समय मूल वासना को दबा ही देती है।"

"स्त्री ही जाति के आदर्शों की जननी है। यह आदर्श स्त्री से ही पुरुष के मानस में पहुँचते हैं। इनके परिपाक की प्रेरणा भी स्त्री से ही मिलती है। अतः मैं कहूँगा कि जिस समाज में स्त्री का मूल्य अधिक है जिस समाज में स्त्री उर्वशी के समान विक्रम के वश में है, वही समाज अधिक उत्कर्ष शाली है। जिस देश में स्त्री की कीमत कम है अर्थात् जहाँ स्त्री की प्राप्ति में पुरुष को कुछ मेहनत करनी पड़ती, उस देश में गरीबी और गन्दी आदतों की अधिकता होती है। अतएव जहाँ स्त्री का मूल्य, अधिक हो; वहाँ के लोगों को समृद्ध होना चाहिये।"

"आप जानना चाहती हैं कि ह्वेल के शिकार को गये हुये और पत्नी से अधिक समय तक अलग रहने वाले पुरुष के स्वास्थ्य पर इस विवशता ब्रह्मचर्य का क्या प्रभाव पड़ता है? इन लोगों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। इसलिये काम वासना की अतृप्ति का उनके स्वास्थ्य पर तो कोई असर नहीं पड़ता। हाँ, जब उनके पास काफी काम नहीं रहता; तब इस वासना को अप्राकृतिक रूप में तृप्त करने के दुर्व्यसन उन्हें लग जाते हैं। शिकार से लौट कर यह लोग अपनी सारी कमाई शराब और भोग विलास में उड़ा देते हैं, क्योंकि यही लक्ष्य लेकर यह शिकार के लिये जाते ही हैं।"

"कृत्रिम साधनों से सन्तानोत्पादन रोकने का प्रश्न जो आपने उठाया है वह गम्भीर है। इसका उत्तर जरा विस्तार से देना होगा अपनी खोजों और अवलोकनों के बल पर इतना तो मैं जोर देकर कह

सकता हूँ कि इन साधनों से हानि नहीं होती। इसका प्रमाण नहीं ही मिलता। हाँ सफल और ज्ञानवान स्त्री रोग चिकित्सकों और मानस रोग चिकित्सकों के पास इसे सिद्ध करने के लिये जबर्दस्त मसाला मौजूद है कि इन साधनों से काम लेना, शरीर, स्वास्थ्य और गति दोनों के लिये अत्यन्त हानिकर है, और खुली बात है कि इस विषय में एक दो बातें ध्यान देने योग्य हैं सन्तान की कामना न हो; तो पति पत्नी में से किसी को भी संयम के लिये प्रेरित करने वाली कोई शक्ति नहीं रहती पुरुष का जी उस स्त्री से भर जाता है उसकी पुरुपार्थ की कामना मन्द पड़ जाती है। स्त्री उसे दूसरी स्त्रियों के पास जाने से रोकने के लिये उसे अपना ही गुलाम बनाये रखना चाहती है। देर तक गर्भाधान न होने देने से उसकी अपना भोगेच्छा भी भड़कती जाती है। परिणाम यह होता है कि पुरुप कुछ हो दिनों में निर्वीर्य हो जाता है और किसी भी रोग का सामना करने का बल उसमें नहीं रह जाता। इस निर्वीर्यता से बचने के लिये बहुधा कुत्सित साधनों से काम लिया जाता है। जिससे स्त्री-पुरुप के मन में एक दूसरे के लिये तिरस्कार उत्पन्न होता है और अन्त में सम्बन्ध विच्छेद या तलाक की नौबत आती है।

"कैंसर, के विशेषज्ञों का कहना है कि इन कृत्रिम साधनों का व्यवहार 'कैंसर, रोग का भी कारण होता है। नारी-देह को एक कोमलतम झिल्ली पर इन साधनों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और उससे कितने ही रोग पैदा होते हैं। कितने ही प्रतिष्ठित डाक्टरों का यह भी कहना है कि इन साधनों को काम में लाने के कारण बहुत सी स्त्रियाँ बाँझ बन जाती हैं—उनका जीवन नीरस हो जाता है और सारा संसार उनके लिये विप-रूप हो जाता है।"

"इससे भी आगे बढ़ कर 'गुदा-मैथुन' एवं 'हस्त-क्रिया' से लगातार वीर्यपात करने से लिंगेन्द्रिय टेढ़ी और छोटी पड़ जाती है। ऐसा कार्य करने वाला और कराने वाला दोनों क्रमशः कुछ ही दिनों में

नपुंसकता के शिकार होते हैं—स्त्री के पास जाने पर लज्जित होने और अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करते और हाथों को मल मल कर रह जाते हैं। यह निन्दनीय कार्य बढ़ता ही जा रहा है। सुन्दर बालकों के पीछे लोग हाथ धो कर पड़े रहते हैं। इससे बढ़कर विनाश-लीला और क्या हो सकती है? ईश्वर इससे बचावे और लोगों को सुबुद्धि दे कि वे इस महान पाप से बचें।"

"जार्ज लिंडसे ने इन कृत्रिम साधनों की खोज को व्यापक रूप दे दिया है—पर उससे होने वाले सर्वनाश का उन्हें स्वयं पता नहीं है। वैज्ञानिक गर्भ-निरोध या वीर्यपात को वह नई खोज मानते हैं। परन्तु है तो वह पुरानी चीज। फ्रांस में कम से कम एक सौ साल से इस साधन का प्रचलन है। उसकी दशा आज क्या है देखिये उसकी राजधानी पेरिस में सत्तर हजार तो ऐसी वेश्याएँ हैं जिनके नाम वेश्याओं के रजिस्टर में दर्ज हैं। 'अन रजिस्टर्ड' खानगी वेश्याओं की संख्या उनसे कई गुनी है। उसके और नगरों में भी यह बुराई बुरी तरह फैल रही है। जननेन्द्रिय के रोगों का भी कोई हद-हिसाब नहीं है और लाखों स्त्रियाँ युवा पुरुष विवाहित और अविवाहित दोनों उनसे पीड़ित हो डाक्टरों के दर की खाक छानते हैं। कितने ही बरसों से जन-संख्या का माध्यम, मृत्यु-संख्या के माध्यम से बहुत नीचा है। फ्रांस के लोग नीति-भ्रष्टता के लिये सारी दुनिया में बदनाम हो रहे हैं और फ्रेंच कुमारियाँ बुरदाफरोशी के बाजार में दिनों-दिन अधिक संख्या में पहुँच रही हैं।"

"सब से भयावह तो यह है कि इन साधनों का एक बार जहाँ धड़ल्ले से प्रचार हुआ कि फिर इस गन्दे ज्ञान का प्रचार रोकने का कोई उपाय नहीं रहता। उसे रोकने की शक्ति भी किसी में नहीं रह जाती। सबसे पहिले यह बातें युवा-वर्ग में पहुँचती हैं। फ्रांस के

वेश्यागृहों में कोमल वदनी कुँवारी और विवाहित दोनों तरह की अभागी स्त्रियों के यौवन और चरित्र की हाट लगती है।"

"जज लिंडसे अपने देश (अमरीका) के युवा अपराधियों का विचार करने वाले न्यायालय से अरसे तक न्यायाधीश रह चुके हैं। इन युवक अपराधियों के बयानों में उन्हें जो तथ्य मिले, उन्होंने उनका उलटा उपयोग किया और अपनी पुस्तक में उलटे साधनों की सलाह दे कर सारी जनता को उलटे रास्ते पर लगा दिया।"

"परन्तु अपनी ही पुस्तक में उन्होंने जो तथ्य प्रमाण दिये हैं उनका रहस्य उनकी समझ में क्यों नहीं आया 'वर्जीनिया एलिस, नाम की एक युवती का पत्र उन्होंने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है, वह बेचारी लिखती है कि मैं चार चतुर डाक्टरों से मिल चुकी और मेरे पति दो अन्य डाक्टरों की सलाह ले चुके। इन छहों डाक्टरों का कहना है कि गर्भ-निरोध के साधनों को काम में लाने से थोड़े दिनों तक स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य पर कोई असर पड़ता भले ही न दिखाई दे, पर कुछ ही दिनों में दोनों हाथ मलने लगते हैं और इस अनिष्ट से ऐसी व्याधि की उत्पत्ति होती है जिसका आपरेशन 'एपिंडिसाइटिस' (आँत का फोड़ा) और गालस्टोन (पित्ताशय की पथरी) के नाम से किया जाता है। पर वास्तव में तो कुछ और ही होता है। क्या यह डाक्टर झूठे हैं? ऐसी राय देने में तो उनका कोई निजी लाभ नहीं। उलटा कृत्रिम साधन काम में लाये जावें, तो रोग बढ़े और उनका रोजगार अधिक चले। परन्तु यह डाक्टर अनुभवी, प्रतिष्ठित और लोक-हित को समझने वाले हैं।"

"जज लिंडसे और उनके पीछे चलने वाले अब पूरी लगन के साथ इन साधनों के प्रचार में लगे हैं। यह प्रचार यदि बढ़ता गया, तो देश में हजारों नीम-हकीम इन साधनों के लिये फिरते दिखाई देंगे और इससे राष्ट्र की अपार हानि होगी।"

'लिंडसे, महोदय ने जनन-निरोध के साधनों का प्रचार करने के लिये एक मंडल स्थापित कर लिया है और कहते हैं कि "यह संस्था स्वर्ग को धरती पर उतार लायेगी।" पर मैं तो मानता हूँ कि "वह दुनिया को नरक बना देगी।" जन-साधारण में यदि इसका प्रचार हुआ तो लोग बेमौत मरेंगे। घुल-घुल कर, सिसक-सिसक कर मरेंगे और शायद यह सत्यानाश देख कर ही आने वाली पीढ़ियाँ इन साधनों से प्रेत की तरह भागना सीखेंगी।"

"जज लिंडसे की नीयत बुरी नहीं है। वह बेचारे तो यही चाहते हैं कि हर एक कुटुम्ब में उतने ही बच्चे पैदा हों जितने स्त्री चाहती हों और जितने के भरण-पोषण का भार पुरुष उठा सकें। उनका दूसरा उद्देश्य है कि स्त्री में सम्भोग-सुख की स्वाभाविक इच्छा होती है। उसकी तृप्ति का समुचित साधन उसे मिल जाये। इस भावना का भूत उनकी अदालत में भग्न-वाहिनी निर्लज्ज छोकरियों ने उनके मानस में घुसाया है। मैं तो यह मानता हूँ कि उनकी अदालत में आने वाली लड़कियों जैसी गवाहियाँ देने वाली लड़कियाँ अपवाद रूप ही होंगी। वे काम-वासना की बातों को जज 'लिंडसे' के इजलास पर गवाही देने वाली लड़कियों की तरह कवित्व और तत्त्व-ज्ञान का पालिस चढ़ा कर तो कह ही नहीं सकतीं। बहुसंख्यक समझदार लड़कियाँ और माताएँ जानती हैं कि यह वासना शुद्ध भ्रम है। पर जज लिंडसे के सामने कितने ही वर्षों से ऐसी कच्ची बुद्धि की लड़कियाँ लगातार आ रही हैं। इससे उनके जैसा विवाहित अधेड़ अवस्था का विद्वान व्यक्ति भी रास्ते से बहक गया हो; और अनचाहे बच्चों की पैदाइश रोकने की पुस्तक लिख डाली; नहीं तो ऐसा कौन होगा जो इतना ज्ञान रखते हुये कालेज में पढ़ने वाले लड़के-लड़कियों को निर्भय होकर सहवास-सुख भोगने की सलाह देगा और इसके लिये विधान और व्यवस्था बनवाने का आन्दोलन करेगा? उनका ज्ञान काम कर रहा

हो; तो उन्हें यह मालूम होता कि कितने सुन्दर, तेजस्वी युवक इस पाप से आत्म-घात की शिक्षा प्राप्त करते हैं—इसलिये कि उनका पुरुषार्थ विदा हो जाता है और उसके साथ-साथ जीने की भी इच्छा चली जाती है। उन्हें इसका पता न हो ; तो मानस रोगों का इलाज करने वाले उन्हें बता सकते हैं कि कच्ची उम्र में जननेन्द्रिय को बहक जाने देना अच्छे भले युवक को शराबी, चोर, उचक्का और लफंगा बना देता है। उनकी अक्ल मारी न गई होती, तो क्या वह लिखते कि पुरुष की विषय-वासना तृप्त करना और उसको वेश्या बनाना उसका धर्म है ?"

"इन बुद्धि के शत्रुओं को कौन समझाये कि प्रजा में यदि जन्म-मरण बहुत बढ़ जाय, तो उसे रोकने का बस एक ही उपाय है—"विषय-भोग से निवृत्ति।" इनकी आँखें यह क्यों नहीं देख सकतीं कि "पशुओं में यही उपाय अमोघ है।" इनकी अक्ल में यह बात क्यों नहीं आती कि इन ऊपरी उपायों का अवलम्बन स्त्रियों को वेश्या और विपथ-गामिनी और पुरुषों को निर्जीव-नपुंसक बना देता है।"

"स्वास्थ्य रक्षा के लिये सम्भोग, आवश्यक है इस भ्रम को दूर कर देना हर एक डाक्टर और अनुभवी सलाह देने वाले का प्रधान कर्त्तव्य है। मैं तो अपने अनुभव और विद्वान अनुभवी चिकित्सकों के साथ बात-चीत करके जो कुछ जान सका हूँ उसके आधार पर यह कहने को तैयार हूँ कि एक लम्बे अरसे तक संभोग न करने से कुछ भी हानि नहीं होती। कितने ही युवकों में जो उछलता हुआ उत्साह और कौंधता तेज दिखलाई पड़ता है वह उनके जीवन का विषय-भोग का फल नहीं। प्रत्युत संयम का प्रसाद होता है। हर एक पुरुषार्थी, जाने, अनजाने इस सूत्र का पालन करता है।"

"विषय वासना को तृप्ति में खर्च होने वाली शक्ति सहज ही पुरुषार्थ में लगाई जा सकती है। शक्ति का संयम जितना अधिक होगा; उतनी ही अधिक सिद्धि मिलेगी।"

"मनुष्य कितनी ही शताब्दियों से रसायन 'कीमिया' की तलाश में भटक रहा है। इस सूत्र में जैसी शक्तियाँ भरी हैं; वैसी कहाँ मिलेंगी?"

"स्त्रियों को अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में अब जागना और सावधान हो जाना चाहिये, उन्हें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि हम पुरुष की वासना तृप्त करने के साधन नहीं हैं। इस रूप में व्यवहार किये जाने का उन्हें तीव्र विरोध करना चाहिये। पुरुष कमाकर स्त्री को खिलाता है, तो इसके लिये इतना उपद्रव क्यों? वह घर चलाये, बच्चों को पाले-पोसे, पढ़ाये-लिखाये, घर के वायुमण्डल में प्रसन्नता भरे, पति और बच्चों को ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित करे, अपने उगते-खिलते बेटे-बेटियों को सन्मार्ग पर चलाती रहे। इससे अधिक स्त्री-कर्त्तव्य और क्या हो सकता है? इतने कर्त्तव्यों का बोझ उठाने के लिये तो उसे इनाम मिलना चाहिये, उसके लिये खास सुविधायें प्रदान किये जाने चाहियें।"

"पुरुष जैसे विषय-भोग की कामना को पुरुषार्थ में बदल सकता है। वैसे ही स्त्री भी कर सकती है। ऊँचे आदर्श सामने रख कर अपने यौवन, धन, अपने सौन्दर्य और अपने सारे आकर्षण को लेकर वह बड़े से बड़ा पुरुषार्थ कर सकती है। इतिहास में इसका सबसे ऊँचा उदाहरण 'जान आव आर्क' का है। उसके पास अपने निष्कलंक कौमार्य और पारदर्शक ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त और कौन-सा बल था। १५वीं सदी में फ्रांस में कैसी भयावह स्थिति थी? सब ओर दारिद्रय, दुःख और दुष्टता का साम्राज्य था। फ्रेंच सेना अनेक वर्षों से अँग्रेजी सेना से हार पर हार खाती जा रही थी। सैनिक निस्सत्व और निर्वीर्य हो गये थे। उत्तर के सभी बड़े नगर शत्रु के अधिकार में थे। पेरिस की सड़कों पर शवों के ढेर पड़े सड़ रहे थे। राजा भाग गया था। स्त्रियों में शील जैसी वस्तु रह ही नहीं गई थी। ऐसे आपत्ति काल में 'जान द आर्क' नाम की अपढ़ पर महाशूर-वीर और बुद्धिमती कुमारी आगे आई। लोग उसको

पवित्रता स्वीकार न करते थे सोचते थे, कि वह फ्रांस की दूसरी सहस्त्रों कन्याएँ जैसी ही आचरण की होगी। सोलह साल की लड़की का कौमार्य क्या अखंडित हो सकता है?

"उसके कौमार्य की जाँच के लिये एक कमीशन बैठाया गया, उसका हाल सही साबित हुआ। तब बुद्धिमान पुरुष ने उसे चाँदी का बखतर पहिनाया और सेना के आगे रखा और वह इस प्रकार मृत्यु का डर छोड़ कर लड़ी मानो उसके अन्दर किसी ने बिजली भर दी हो। उसके ब्रह्मचर्य का लोगों के ऊपर अद्भुत प्रभाव पड़ा। नामर्द, मर्द बन गये और कितने ही वर्षों से चलने वाली लड़ाई गिने-गुथे दिनों में ही समाप्त हो गई। अङ्गरेजों के कदम फ्रांस से उखड़ गए, इतिहास में इस घटना का जवाब नहीं मिला। पर आज जो प्रवाह बह रहा है, वह चलता रहे। स्त्री विषय-वासना की तृप्ति मात्र का साधन बन जाय। पुरुष उसे भ्रष्ट करता रहे, जनन विरोध के साधनों का चलन सर्व साधारण में हो जावे; तो इससे समाज में सत्यानाश का जो चक्र चलेगा उसके रोकने के लिये ब्रह्मचारिणी तपस्विनी 'जोन द आर्क' जैसों की ही आवश्यकता होगी जो १५वीं शताब्दी की उस वीरांगना का जोड़ होगा।"

"सब स्त्रियाँ भले ही 'जोन द आर्क' न बनें—भले ही वे पवित्र विवाह-बंधन में बँधे, पर इस बंधन में बँध कर भी वे अपने सम्बन्ध की पवित्रता स्थिर रखें—उसे वेश्या-वृत्ति न बना दें। वे माता का धर्म समझें—और पुरुषों का पुरुषार्थ जगाने वाली शक्ति बनें।"

"यही इस सुन्दर पुस्तक का सार है; पहिली पुस्तक का सार लगभग शब्दशः उलथा है, पर यह खुलासा उलथा नहीं—बल्कि लेखक के भावों का निचोड़ है सारी पुस्तक में जो कुछ कहा गया है—वह मानो अपने इस महामन्त्र में आ जाता है—

"मरणं बिन्दु पातेन, जीवनं बिन्दु धारणात्।"

"और 'जोन द आर्क' जैसे ज्वलन्त दृष्टान्त अपने वैधव्य के अखंड

ब्रह्मचर्य से चमकाने वाली मीराबाई, झाँसी की महारानी लक्ष्मी बाई, और अहिल्या बाई होल्कर के तथा समस्त जीवन को कौमार्य—ब्रह्मचर्य से शोभा-सम्पन्न कर देने वाली दक्षिण भारत की दो साहिबयों 'अब्बे' और 'आँडाल' के चरित्रों में मिलते हैं।"

"जिन जीवों का शरीर केवल एक कोष का बना होता है, उन्हें आकार-वर्द्धक शीशे से देखने पर प्रगट होता है कि अति निम्नकोटि की जीव श्रेणियों में जनन या वंश-वृद्धि की प्रक्रिया विभाजन के द्वारा होती है। जीव-शरीर के टुकड़े हो कर एक से दो जीव बन जाते हैं। जीव पोषण पा कर पुष्ट होता है और उसकी जाति के जीव के देह की अधिक से अधिक जितनी बाढ़ हो सकती है, उस बाढ़ को जब वह पहुँच जाता है। तब वह प्राण-केन्द्र (न्यूक्लियस) और कुछ क्षण पश्चात् शरीर के भी दो टुकड़े कर लेता है। स्थिति साधारण हो; जल और आहार सुलभ हो तो जान पड़ता है कि उसके जीवन का कार्य यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु यह दोनों वस्तुएँ यदि सुलभ न हों; तो कभी-कभी यह देखने में आता है कि दोनों कोष फिर जुड़ जाते हैं। इस। किसी नये जीव की उत्पत्ति तो नहीं होती; पर उस जीव की जवानी लौट आ सकती है।"

"बहु-कोषी जीवों में भी पोषण और वृद्धि की क्रियायें वैसी ही होती हैं जैसे नीचे की श्रेणी वाले प्राणियों में; पर एक नयी बात देखने में आती है कि जिस कोष-समूह से शरीर का निर्माण होता है, वह कई वर्गों में बँट कर भिन्न-भिन्न कार्य करने लगता है। कुछ आहार या पोषण प्राप्त करते हैं, कुछ उसका वितरण करते हैं, कुछ शरीर या उसके विभिन्न अंगों को हिलने-डुलने में समर्थ बनाते हैं, तो कुछ उसकी रक्षा का भार उठाते हैं—जैसे 'खाल'। जिन कोषों को नये कार्य सौंपे जाते हैं वे विभाजन की प्राथमिक क्रिया का त्याग कर देते हैं; पर जिनका स्थान पिंड के अधिक भीतरी भाग में होता है; वे उससे किये जाते हैं। जिन

कोषों का रूप-कार्य बदल गया, वे उसकी सेवा (रक्षा) करते हैं। परन्तु वे स्वयं जैसे-के-तैसे बने रहते हैं। वे पहिले ही की तरह फटते और विभक्त होते हैं। इसके विपरीत बहु-कोषी शरीर के अन्दर ही आगे चल कर कुछ उससे बाहर भी कर दिये जाते हैं। इस प्रकार उन्हें एक नयी शक्ति मिल जाती है। अपने पुरखों की तरह फट कर एक से दो हो जाने के बदले वे अपने प्राण-केन्द्र के टुकड़े किये बिना ही उससे नये पिंड पैदा कर लेते हैं। यह क्रिया तब तक चलती रहती है; जब तक कि प्राणी अपनी जाति की पूरी बाढ़ नहीं प्राप्त कर लेता। इसके पश्चात् उसकी देह में एक नयी चीज दिखाई देती है। बीज-कोषों के मूल-समुदाय बाह्य-जनन के कार्य से छुट्टी पा ही जाते हैं। देह के भीतर विभिन्न क्रियाओं के लिये वे नये कोष भी लगातार प्रस्तुत करते रहते हैं। अपने मूल रूप में बने रहने वाले कोष इस प्रकार एक साथ दो कार्य करते हैं। "शरीर के विकास के लिये भीतरी जनन या उत्पादन और वंश-रक्षा के लिये बाहरी जनन।" यहाँ इन दोनों क्रियाओं में हम स्पष्टतः भेद कर सकते हैं। इनमें से एक को हम 'पुनर्जनन' और दूसरे को 'जनन' कहेंगे। एक बात और ध्यान देने योग्य है, पुनर्जनन की क्रिया-भीतरी उत्पादन, व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिये अनिवार्य है। इस लिये आवश्यक और प्रधान है। 'जनन' की क्रिया कोषों की आवश्यकता से अधिक हो जाने का परिणाम है। इस लिये कम जरूरी—गौण है। संभवतः दोनों शरीर को पूरा पोषण मिलने पर अवलम्बित हैं, क्योंकि यदि उसमें कमी हुई तो शरीर के भीतरी निर्माण की क्रिया ठीकतौर से न हो सकेगी, और फिर बाह्य-जनन-वंशवृद्धि की आवश्यकता न होगी। होना शक्य न होगा। अतः इस स्थिति में जीवन का नियम यह है कि बीज-कोषों का पोषण पहले पुनर्जनन के लिये किया जाय फिर जनन क्रिया के लिये। शरीर को पूरा पोषण न मिलने की दशा में पुनर्जनन प्रथम कर्तव्य होगा और जनन की क्रिया बन्द रहेगी। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि

सन्तानोत्पादन कुछ समय तक रोक रखने का उद्गम कहाँ है और किस प्रकार विकसित होकर उसने ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या का रूप प्राप्त किया। आन्तरिक पुनर्जनन की क्रिया बन्द हो जाने का अर्थ मृत्यु होगा और यही बात हमें स्वाभाविक मृत्यु के मूल का भी पता दे देती है।"

"मनुष्यों और पशु-जातियों में लिंग-भेद चरम विकास को पहुँच चुका है और साधारण नियम बन गया है। इनकी स्थिति पर विचार करने के पहिले हमें जनन पर वंश-वृद्धि के मध्यवर्ती प्रकार पर एक निगाह डालनी होगी। यह प्रकार है:—उभय लिंग प्रकार के पहिले और अलिंग प्रकार के बाद का पौराणिक गाथाओं में इस जीव-श्रेणी को उभय लिंग की संज्ञा दी गई है। इसलिये कि वह नर-नारी दोनों के कार्य करता है। कुछ जीवों में अब भी यह बात देखने में आती है। उनमें बीज-कोषों की तो वृद्धि 'आन्तरिक'—तो ऊपर बताई हुई रीति से ही होती है, परन्तु जनन-क्रिया के लिये बिलकुल अलग कर दिये जाने के बदले वे कुछ कालके लिये ही अलग किये जाते हैं और देह के दूसरे भाग में प्रविष्ट हो जाते हैं और जब तक स्वतंत्र-जीवन की योग्यता नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक उनका पोषण वहीं होता रहता है।"

"जीवन के विकास का नियम यह मालूम होता है कि प्राणी एक कोषी हो बहुकोषी या उभय-लिङ्ग। उसके शरीर की बाढ़ हद तक हो सकती है जिस हद तक उसके जननी-जनक उसके जन्म-काल में पहुँच चुके थे। इस प्रकार प्रगति व्यष्टि-प्राणी की ही होती है। जब-जब वह बच्चा पैदा करता है शरीर-संघटन की दृष्टि से वह खुद पहिले से अच्छी स्थिति में हो सकता है या होता है। फलतः उसकी सन्तान अपने माँ-बाप की साधारण बाढ़ को पहुँचने में समर्थ होगी। सन्तानोत्पादन में समर्थ होने का काल प्रत्येक व्यक्ति और जाति के लिये भिन्न-भिन्न होता है। पर आदर्श रूप में वह जवानी से बुढ़ापे के आरम्भ तक होता है। जवान होने के पहिले या शक्तियों का ह्रास आरम्भ हो जाने के पश्चात्

सन्तान उत्पन्न की जाये, तो वह माँ-बाप से बल-बुद्धि में हीन होगी। यहाँ भी शरीर-शास्त्र के नियम हमें सम्भोग नीति का एक नियम बताते हैं। वंश-वृद्धि और शरीर की आन्तरिक पुष्टि की दृष्टिसे पूर्ण यौवन-काल ही सन्तानोत्पादन के लिये सर्वोत्तम काल है।"

"उभय लिंग प्राणी से लिंग-भेद की उत्पत्ति का इतिहास हम छोड़ देते हैं, क्योंकि यह विकास-क्रम निर्विवाद तथ्य है। परन्तु उभय लिंग प्राणी के दोनों अर्द्ध-भाग 'नर और मादा' दो पिण्ड तो हो ही जाते हैं। हर एक अलग से बीज-कोष भी पैदा करने लगता है। नर-भाग, बीज-कोष या शुक्र-कीट बनाकर आन्तरिक जनन का पुराना बुनियादी काम बदस्तूर किये जाता है, पर उन्हें पृथक करने की जगह पर इस उद्देश्य से बटोर रखता है कि शुक्र-कीट उनमें प्रविष्ट होकर गर्भाधान करें। दोनों अवस्थाओं में पुनर्जनन की क्रिया व्यक्ति के लिये अनिवार्य आवश्यक है। गर्भ स्थिति के बाद पुनर्जनन क्रिया प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है। मानव-प्राणी के पूरी बाढ़ का पहुँच जाने पर सन्तानोत्पादन हो सकता है; पर वह केवल जाति के हितार्थ होता है, व्यक्ति का हित उससे होना आवश्यक नहीं है। निम्नकोटि के जीवों की तरह यहाँ भी आन्तरिक जनन रुक जाने का अर्थ रोग या मृत्यु होता है। यहाँ भी व्यक्ति और जाति के हित एक दूसरे के विरोधी होते हैं। व्यक्ति के पास बीज-कोषों की फाजिल पूँजी न हो, सन्तानोत्पादन में उसे खर्च करने से पुनर्जनन या अन्तर उत्पादन की क्रिया को कुछ आवश्यक सामग्री की कमी पड़ जायगी। सच तो यह है कि सभ्य मानव-समाज में संभोग-वंश रक्षा की आवश्यकता से कहीं अधिक और भीतरी पुनर्जनन की क्रियायें अड़चन डालते हुए किया जाता है, जिसका फल रोग, मृत्यु और दूसरे कष्ट होते हैं।"

"मानव-शरीर को कल किस तरह चलती है इस पर यहाँ हम थोड़ी अधिक सूक्ष्म दृष्टि डालना चाहते हैं। हम पुरुष शरीर को लेते

हैं, पर स्त्री शरीर में भी ब्यौरे के थोड़े अन्तर के साथ वही क्रियायें होती हैं।"

"शुक्र कोषो का केन्द्रीय-भण्डार प्राण आदिम का और मूल-भूत अधिष्ठान है। भ्रूण या गर्भ आरम्भ से ही माता की देह में बनने वाले रसों से पुष्ट होकर तिक्षण बढ़ता रहता है। शुक्र-कोषों का पोषण ही यहाँ भी जीवन का नियम दिखाई देता है। गर्भ के शुक्र-कोषों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है और उनमें कुछ भिन्नता पैदा होने लगती है, वे आवश्यकतानुसार नये रूप और नये कार्य ग्रहण करने लगते हैं। स्थूल अर्थ में जन्म-ग्रहण माँ के पेट से बाहर आने से इस क्रिया में थोड़ा ही अन्तर पड़ता है। पहले शुक्र-कोष की सामग्री नाल के द्वारा मिलती थी, अब होठों और मुँह के रास्ते मिलती है। कोषों की वृद्धि अब तेजी से होती है और सारे शरीर में जहाँ कहीं निकम्मे तन्तुओं की जगह नये तन्तु बनाने की आवश्यकता होती है, वहाँ पहुँच जाते हैं। रूप-वाहिनी नाड़ियाँ इन कोषों को अपने आदि अधिष्ठान से लेकर देह के हर भाग में पहुँचाती हैं। बड़े-बड़े समूहों में खास-खास काम अपने ऊपर लेते हैं। और देह के भिन्न-भिन्न अङ्गों का निर्माण और मरम्मत करते हैं। जिस कोष-समुदाय की वे व्यष्टि हैं; वह जीता रहे; इसके लिये वे हजार बार मौत को गले लगाते हैं। यह सारे मुर्दे शरीर की ऊपर सतह पर आ जाते हैं और खास कर हड्डियों में, दाँतों, खाल और बालों में कड़ाई पैदा करके सारे शरीर का बल बढ़ाते और उनकी रक्षा करते हैं। उनकी मृत्यु देह के उच्चतर जीवन और उस पर आश्रित सारी बातों का मूल्य है। वे आहार-ग्रहण, नये कोषों का उत्पादन, विभाजन, भिन्न-भिन्न वर्गों में बँट कर विभिन्न कार्यों का सम्पादन और यह सब करके अन्त में मर जाना बन्द कर दें, तो शरीर जी नहीं सकता।"

"जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है बीज-कोषों या शुक्र-कोषों से दो प्रकार के जीवन की प्राप्ति होती है—(१) आन्तरिक या प्रजनन रूप

और (२) बाह्य या जनन रूप। पुनर्जनन देह के जीवन का आधार है और उसको भी उसी श्रोत से जीवन मिलता है, जिससे जनन-क्रिया को। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि विशेष अवस्थाओं में दोनों क्रियायें एक दूसरे की विरोधिनी एक दूसरे में बाधक हो सकती हैं।"

"पुनर्जनन यांत्रिक क्रिया—बेजान कल के पुर्जों का हिलना। न है और न हो सकता है। वह तो जीव-सृष्टि में कोप के प्रथम विभाजन की तरह प्राण या जीव का अस्तित्व बताने वाला व्यापार है। अर्थात् वह कर्त्ता में बुद्धि और संकल्प की शक्ति होने की सूचना देता है। प्राण-तंत्र का विभाजन या अलगाव उसका विशिष्ट कार्यों की योग्यता प्राप्त करना शुद्ध यांत्रिक क्रिया है। यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की यह मूल भूत क्रियायें हमारी वर्त्तमान चेतना से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि कोई बुद्धिकृत या सहज संकल्प उनका नियमन करता है, यह नहीं जान पड़ता परन्तु क्षणभर के विचार कर लेने पर ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि पूर्ण बाढ़ को पहुँचे हुए मनुष्य का संकल्प जिस तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं और प्रक्रियाओं का संचालन, बुद्धि के निर्देशानुसार करता है, वैसे ही यह भी मानना होगा कि आरम्भ में होने वाली शरीर के क्रमिक सङ्गठन की क्रियायें भी अपनी परिस्थिति की सीमाओं के अन्दर एक प्रकार की बुद्धि की रहनुमाई में काम करने वाली एक प्रकार की इच्छा शक्ति या सङ्कल्प के द्वारा परिचालित होती हैं। इस बुद्धि को मानस-शास्त्र के पण्डित अचेतन मन अन्तर चेतना कहने लगे हैं। यह हमारी व्यष्टि, सत्ता, हमारी आत्मा का ही एक अङ्ग है, तो हमारे साधारण चिन्तन से लगाव न रखते हुए अपने निज के कर्त्तव्यों के विषय में अतिशय जागरूक और सावधान रहता है। हमारी बाह्यचेतना सुषुप्ति, बेहोशी आदि में सो जाती है, परन्तु अन्तश्चेतना कभी एक क्षण के लिये भी नहीं आँखें मूँदती।"

"इस प्रकार हमारी अन्तश्चेतना ही वह प्राण-शक्ति है, जो शरीर के भीतरी निर्माण और विकास की पेचीदी क्रियाओं का नियमन करती है। उसका पहला काम है—गर्भ-युक्त डिम्ब को अलग करना और इसके बाद प्राणी की मृत्यु होने तक मूल बीज-कोषों को सोख कर और उन्हें विभिन्न अंगों को भेज कर अपने पिंड या शरीर की रक्षा करते रहना. इस विषय में मेरा मत अनेक नामी मानस-शास्त्रियों के मत का विरोध करता हुआ मालूम हो सकता है, पर मेरा कहना है कि अचेतन मनको केवल व्यक्ति की चिन्ता होती है। जाति के मरने-जीनेकी परवाह उसे नहीं होती, अतः पहिले वह पुनर्जनन की गाड़ी चलाने का उपाय करता है। केवल एक ही दृष्टि से कह सकते हैं कि अचेतन को भावी पीढ़ी की जाति की चिन्ता होती है। शरीर-संघटन की दृष्टि से व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ से वह जिस स्तर पर पहुँचा चुका है, उसको वह बनाये रखना चाहता है, परन्तु जो बात असम्भव है कि वह उसके लिये नहीं हो सकती। चेतना या ज्ञान संकल्प की सहायता से भी वह जीवन को अनन्त काल तक बनाये नहीं रह सकता। अतएव काम-प्रवृत्ति अथवा सम्भोग के आवेग के द्वारा अपने आप को फिर से पैदा करता है। कह सकते हैं कि इस व्यापार में अचेतन और चेतन मन अन्तश्चेतना और वहिश्चेतना मिल कर काम करती हैं। सम्भोग में मिलने वाला सुख साधारणतः इस बात की सूचना माना जा सकता है कि उससे व्यक्ति को सुख मिलने की अतिरिक्त और के प्रयोजन की भी पूर्ति होती है। व्यक्ति को इस सुख का मूल्य भी जितना वह जानता है उससे बहुत अधिक चुकाना पड़ता है।"

"इस लेख को विज्ञान के विशेषणों के अवतरणों से भर कर बोझिल बना देना इष्ट नहीं है, पर विषय इतने महत्त्व का है और जन-समाज में इस विषय में इतना अज्ञान फैल रहा है कि कुछ प्रामाणिक वचन हमें देने ही होंगे। श्री 'रेलैंकेस्टर' लिखते हैं—

"आदि जीव, (प्रोटो जोआन) का शरीर केवल एक कोष का होता है और अपना वंश वह अपने शरीर के टुकड़े करके बढ़ाता है। इससे इस प्रकार के जीवों में मृत्यु कोई स्वाभाविक और साधारण घटना नहीं है।"

"वीस-मान" का कहना है कि "स्वाभाविक मृत्यु केवल बहुकोषी जीवों में ही होती है, एक कोष वाले जीव उससे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी वैसा अन्त नहीं होता, जिसकी तुलना मृत्यु से की जा सके, और यह भी आवश्यक नहीं कि नये प्राणी के उत्पन्न होने के लिये पुराने को मरना पड़े। विभाजन में दोनों अंश समान होते हैं न कोई बूढ़ा होता है और न जवान। इस प्रकार व्यष्टि जीवों की अनन्त श्रेणी चलती रहती है, जिसमें हर एक की वय उतनी ही होती है, जितनी जाति की। हर एक में अनन्त काल तक जीते रहने की सामर्थ्य होती है। उसके टुकड़े सदा होते रहते हैं, परन्तु मरता कभी नहीं।"

पैट्रिक गेडेस, 'द इवोल्यूशन ऑव सेक्स' पुस्तक में लिखते हैं कि "इस तरह हम कह सकते हैं कि मृत्यु देह धारण का मूल्य है। यह कीमत हमें कभी न कभी चुकानी ही पड़ती है। देह से हमारा अभिप्राय कोषों के उस जटिल संघात से है, जिसमें थोड़ा-बहुत अंग-भेद और कार्य भेद विद्यमान हो।"

श्री वीस-मान के अर्थ-भरे शब्दों में "देह एक तरह से जीवन के सच्चे अधिष्ठान उत्पादन कार्य करने वाले कोष समूह का अतिरिक्त विस्तार उनसे जोड़ी हुई वस्तु-सी जान पड़ती है।"

श्री 'रैलेंकेस्टर' भी यही बात कहते हैं "बहु-कोषी प्राणियों के शरीर में कुछ दोष देह के और घटकों से अलग कर दिये जाते हैं। ......ऊँची श्रेणी के जीवों की देह, जो मरणशील होती है; इस दृष्टि से क्षणिक और गौण वस्तु मानी जाती है, जिसकी रचना का प्रयोजन

अधिक महत्त्व वाली और अमर वस्तु 'विभाजन' से उत्पन्न कोष घात का कुछ दिनों तक धारण पोषण करते रहना भर है।"

"पर इस विषय में सबसे अधिक मार्के की और सम्भवतः सर्वाधिक विस्मयजनक बात वह गहरा लगाव है, जो ऊँचे प्रकार की बनावट वाली देहों या पिंडों में जनन क्रिया और मृत्यु के बीच पाया जाता है। अनेक विज्ञान-विद इस विषय पर स्पष्ट और निश्चयात्मक शब्दों में अपने विचार प्रगट कर चुके हैं। 'जनन' का दण्ड 'मरण' है। बहुतेरी जीव-योनियों में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। वंशरक्षा का उपाय करने में उनमें नर या मादा में से एक को अकरस जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पादन के पश्चात जीवित रहना प्राण की विजय है, जो सदा नहीं होती। कुछ जीव-जातियों में तो कभी होती ही नहीं। 'गेटे' ने मृत्यु पर लिखे हुए अपने निबन्ध में भली-भाँति दिखाया है कि जनन और मरण में कितना निकट का और अनिवार्य सम्बन्ध है। यह दोनों क्रियायें क्षय-क्रिया की वे मंजिलें कही जा सकती हैं जब स्थिति कोई पक्की करवट लेती है।''

श्री 'पैट्रिक गेडिस' पुनः कहते हैं कि "सन्तानोत्पादन और मृत्यु का सम्बन्ध निस्संदेह स्पष्ट है। पर आम बोलचाल में इस लगाव को गलत रूप दे दिया जाता है। हम लोगों को, यह कहते सुनते हैं कि प्राणी की मृत्यु अटल है। इसलिये उसे बच्चे पैदा करने ही होंगे, नहीं तो जाति का नाश हो जावेगा। परन्तु पीछे के उपयोग की यह दलील साधारणतया हमारे दिमाग की बाद में होने वाली उपज होती है। इतिहास हमें बताता है कि प्राणी इसलिये नहीं बच्चे पैदा करता कि उसे एक दिन मरना है, बल्कि वह बच्चे पैदा करता है, इसीलिये मरता है।"

"श्री गेटे ने इस तत्व को यों सूत्र रूप में बताया है कि "मरण-

जनन को आवश्यक नहीं बचता—बल्कि वह स्वयं जनन का अनिवार्य परिणाम है।"

बहुत से उदाहरण देने के बाद गेडेस ने इन ध्यान देने योग्य शब्दों में इस विषय का उपसंहार किया है। "ऊँची श्रेणी के जीवों में वंश-वृद्धि के लिये होने वाला बलिदान बहुत कम हो गया है। फिर भी कामवासना की तृप्ति के फल रूप में मौत होने का खतरा मनुष्य के लिये रहता ही है। संयत मात्रा में सम्भोग से भी तन-मन में सुस्ती, थकावट और घोर आलस्य आ जाता है और शारीरिक शक्ति के इस ह्रास काल में हर तरह के रोग होने की सम्भावना बढ़ जाती है, यह तो सभी को मालूम है।"

"इस विवेचना का निचोड़ यह हो सकता है कि संभोग पुरुष के लिये शरीर के क्षय की क्रिया या मौत की ओर बढ़ता है और प्रसव-क्रिया में स्त्री के लिये भी उसका वही अर्थ होता है और यह बात बिलकुल पक्की है।"

"असंयत संभोग का शरीर के स्वास्थ्य पर जो अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है, उस पर तो एक पूरा अध्याय लिखा जा सकता है। अखंड ब्रह्मचर्य या पूर्ण संयम का पालन करने वाले को भी बल-वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य की प्राप्ति होना साधारण नियम है। इसका एक प्रमाण यद्यपि वह जरा भद्दा है, यह हो सकता है कि दुर्बल जनों के शरीर में इंजेक्शन के द्वारा बाहर से थोड़ा वीर्य पहुँचा देने से उनकी बहुत सी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।"

प्रस्तुत निबंध के इस भाग में जो मत या निष्कर्ष पाठकों के सामने रखे गये हैं उनका मन उन्हें मानने से इनकार कर सकता है। कितने ही लोग बहुतेरे बूढ़े और देखने में तन्दुरुस्त लगने वाले स्त्री-पुरुष, अविवाहितों से अधिक जीते हैं। पर इतने से कोई भी दलील इस तथ्य के सामने टिक नहीं सकती कि विज्ञान की दृष्टि से मृत्यु, जीवन के अन्त

में घटित होने वाली घटना नहीं है, बल्कि यह एक क्रिया है जो जीवन के साथ ही आरम्भ होती और प्रतिक्षण उसके साथ-साथ चलती रहती है। शरीर की छीज की पूर्ति अथवा पोषण और उसका क्षय जीवन और मरण की शक्तियाँ हैं जो एक दूसरे से कदम-ब-कदम चला करती है। बचपन और चढ़ती जवानी के दिनों में जीवन की प्रक्रिया दौड़ में आगे रहती है। प्रौढ़ावस्था में दोनों एक साथ पग उठा और मिलाकर चलती हैं, पर उम्र जब ढलने लगती है; तो मृत्यु की क्रिया आगे निकल जाती है, और अन्त में निधन के क्षण में जीवन की शक्ति को पक्के तौर से पछाड़ देती है। इस जय लाभ में सहाय होने वाली हर बात को जो उस घडी को एक दिन, एक बरस, या एक दशक आगे खींच लाती है, मृत्यु की क्रिया है और सम्भोग ही निस्संदेह ऐसा कार्य है। विशेष कर जब वह अति मात्रा में किया जाय।"

"अपने उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता पर सन्देह करने वालों को मैं एक बहुत ही रोचक और ज्ञानगर्भ पुस्तक पढ़ने की सलाह दूँगा। वह है चार्ल्स एस माइनट लिखित 'द प्राब्लम आव द ग्रोथ एंड डेथ।' विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में क्षय और मृत्यु का अर्थ और स्वरूप शरीर-शास्त्र की दृष्टि से बताया है। उसकी इस बात को मैं पक्के तौर से मानता हूँ कि स्वाभाविक मृत्यु, जीवन की कोई अलग, असम्बन्ध घटना नहीं है, बल्कि एक निरन्तर चलती रहने वाली क्रिया है, पर कामुकता के विषय पर जो पुस्तक मुझे सबसे अधिक महत्व की जान पड़ी वह है—डाक्टर केनेथ सिल्वाँ गुदरी की 'रिजेनरेशन द गेट आव हेवेन।' उसका नाम तो बताता है कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से लिखी गई है, पर उसमें शरीर-शास्त्र और नीति-शास्त्र की दृष्टि से भी विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है और अपने मन की पुष्टि में विज्ञान के प्रमुख पंडितों तथा ईसाई धर्माचार्यों के मत पेश किये गये हैं।"

"शरीर के उच्चतर कार्यों, खास कर मन की भौतिक इन्द्रिय-नाड़ी-

संस्थान और मस्तिष्क का विचार करने से जनन और पुनर्जनन क्रिया के स्थिर विरोध का कुछ अन्दाजा हमें लग सकता है। हमारा सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान भी ऐसे कोषों से ही बना है तो कभी बीज कोष रह चुके हैं और जो प्राण के आदि अधिष्ठान से खिंचकर आये हैं। विभिन्न संस्थानों के नाड़ी जाल केन्द्रों को उनकी धारा सदा सींचती रहती है, दिमाग तो प्रचुर मात्रा में उसकी प्राप्ति होती है। इन कोषों का ऊपर की ओर जाकर शरीर के पोषण में लगना रोक कर वे सन्तानोत्पादन पर केवल भोग सुख के लिये खर्च किये जाँय, तो वह खजाना खाली हो जाता है, जिससे उक्त अंग रोज होने वाली छीज की पूर्ति किया करते हैं। यही शारीरिक सच्चाइयाँ हमारी वैयक्तिक संभोग-नीति का आधार हैं, अखंड ब्रह्मचर्य नहीं तो संयम की सलाह जरूर देती हैं। संयम की प्रेरणा का मूल स्रोत कहाँ है, यह तो बताती है।

"कुछ दर्शन तो मानते हैं कि ब्रह्मचर्य धारण से मन और आत्मा की शक्तियाँ बढ़ती हैं। भारत का योग दर्शन उनमें प्रधान है। पाठक पातंजल-योग-दर्शन के किसी भी प्रामाणिक उलथे को देखकर मेरे कथन की सचाई की जाँच कर सकते हैं। अङ्गरेजी में 'हारवर्ड आरियंटल सीरीज में प्रकाशित जेम्स एच० वुड कृत उलथा सबसे सर्वश्रेष्ठ अनुवाद है।"

"भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन से परिचितजनों का मालूम होगा कि हिन्दू लोग पहले तपस्या किया करते थे और बहुतेरे अब भी करते हैं। उसके दो उद्देश्य होते हैं—शरीर की शक्तियों को बनाये रखना और बढ़ाना तथा मन की अतीन्द्रिय शक्तियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त करना। पहले को हठ योग कहते हैं। शारीरिक पूर्णता आदर्श स्वास्थ्य को ही उसने अपना लक्ष्य मान लिया है। उसके अन्दर बहुत करामाती काम किये जाते हैं। दूसरे का नाम राज-योग है, जिसका उद्देश्य मन-बुद्धि और आत्मा की शक्तियों का विकास है; पर शारीरिक

सदाचार का अंग दोनों में समान है। पतञ्जलि के योग-सूत्र और प्राचीन भारत के इस महान मानस-शास्त्री के सिद्धान्तों के सहारे रचित अन्य कितने ही ग्रन्थों में वर्णित है।"

"पंच-क्लेशों में 'राग' का स्थान तीसरा है। पतञ्जलि के कथनानुसार उसका अर्थ है सुख या सुख प्राप्ति के साधनों की कामना अथवा तृष्णासुख में दुःख मिला हुआ है, इसलिये वह योगी के लिये त्याज्य है।"

योग के आठ अंग हैं। उनमें पहला यम और नियम हैं; जिनका पालन योग के अभ्यासी को सबसे पहिले करना होता है यह देखकर आश्चर्य होता है कि योग के रहस्यों के अनेक उद्घाटन-कर्त्ता या तो इस बात से अनभिज्ञ हैं या जानते हुए भी इस विषय में चुप्पी साध लेते हैं कि चौथा यम आठ प्रकार के मैथुन का त्याग है और ब्रह्मचर्य जननेंद्रिय का निग्रह है।

पर पतञ्जलि के कथनानुसार ब्रह्मचर्य के लाभ महान हैं। "ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ।" ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित रहने वाले को वीर्यलाभ होता है। वीर्य के मात्रा हैं बल और पौरुष। उसके लाभ से अणिमादि अष्ट-सिद्धियों की प्राप्ति होती है।......

श्री मणिलाल ना० द्विवेदी अपनी योग-सूत्र की टीका में लिखते हैं "शरीर शास्त्र" का यह सर्वविदित नियम है कि वीर्य का बुद्धि के साथ बहुत गहरा लगाव है। और हम कह सकते हैं कि अध्यात्म-भाव के साथ भी है। जीवन के अमूल्य तत्व का अप-व्यय रोकने से मनुष्य को मन-इन्द्रियों की अभीष्ट अतिन्द्रिय शक्ति प्राप्त होती है। इस 'यम' का पालन किये बिना किसी को योग सिद्ध होने की बात हमें नहीं मालूम।"

"योग सूत्रों के कितने ही भाष्यों में योग का प्रयोजन और प्रक्रिया रहस्यवाद की शब्दावली में वर्णित है। शक्ति के विषय में कहा जाता

है कि वह सर्प के समान सबसे नीचे के चक्र से सबसे ऊपर के चक्र अंड-कोष से ब्रह्माण्ड को जाती है।''

"सदाचार के नियम सामान्यतः जीवन के अनुभवों से बनते हैं चाहे वे व्यक्तियों के जीवन के हों या समाजों के अथवा जाति के। इतिहास के कथनानुसार उनकी रचना कोई महापुरुष करता है कभी-कभी उसे ईश्वर के अवतार या दूत का पद प्राप्त होता है। मूसा, बुद्ध, कनफ्यूशियश, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद हर देश में हुए महान उपदेष्टा और तत्त्व-ज्ञानी सबने अपने-अपने देश और काल में मनुष्य के आचार को परखने की कोई-न-कोई कसौटी पेश की। अतः सामान्य सर्वोपयोगी नीति-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, मानस-शास्त्र, शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आश्रित हो गया। ये सब मिलकर अनेक तथ्य तथा मरते हुये तथ्य प्रस्तुत करते हैं जो स्वतः प्रमाण होते हैं। अतः किसी भी युग या सभ्यता में वैयक्तिक काम-नीति या सम्भोग-नीति के नियम उन्हीं तथ्यों के आधार बनेंगे, जो लोगों के अपने अनुभव में उनपर सबसे अधिक प्रभाव डालते हैं। समाजिक काम-नीति की तरह वैयक्तिक काम-नीति भी युग-युग में भिन्न होती है; पर उसकी बातें स्थायी और अत्यधिक सार्वकालिक होती हैं।"

"इस युग के लिये वैयक्तिक काम-नीति निर्धारित करने में हमें सभी ज्ञात तथ्यों और सम्भावनाओं का विचार करना होगा, विशेष कर जब विश्वसनीय समीक्षकों के अनुभव उसकी पुष्टि कर देते हों। यह कहना अपनी बड़ाई करना नहीं है कि प्रस्तुत लेख के पहिले वर्णनों में जो तथ्य दिये गये हैं वे निर्विकार चित्त के समझदार पाठक को तत्क्षण कुछ युक्ति संगत अनिवार्य परिणामों पर पहुँचाते हैं। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक हित की दृष्टि से वे तथ्य यही बताते हैं कि ब्रह्मचर्य जीवन का अकाट्य नियम है; पर इस नियम को चुनौती देने के लिये तुरन्त ही दूसरा नियम हमारे सामने आकर ताल ठोंकता है, एक नियम दूसरे का खण्डन करता है। पहिला

नियम प्रकृति का है, काम की वासना या वेग उसकी देन है। पिछला नियम है अपरोक्ष ज्ञान का, विज्ञान का, अनुभव का, विश्वास का, आदर्श का। पुराने नियम के अनुसरण का फल है जल्दी बूढ़ा होना और जल्दी परलोक सिधारना। नये नियम के रास्ते में ऐसी विकट बाधायें खड़ी हैं कि उन पर चलने की हिम्मत विरले ही करते हैं, वस्तुस्थिति पर विश्वास करना लोगों के लिये कठिन होता है। वे तुरन्त किन्तु, परन्तु करने लगते हैं; पर यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि योगियों, संन्यासियों और भिक्षुओं के लिये जो आचार के कड़े-से-कड़े नियम रखे गये हैं वे पौराणिक आख्यानों या अंध-विश्वासों पर आश्रित नहीं हैं; बल्कि इस निबंध में वर्णित शारीरिक सत्यताओं द्वारा आदिष्ट हैं।"

"काम-वासना की तृप्ति में सदाचार-पालन का पक्ष, जहाँ तक मेरी जानकारी है, किसी आधुनिक लेखक ने 'काउंट टॉलस्टॉय' से ज्यादा जोरदार या स्पष्ट शब्दों में उपस्थित नहीं किया है। रूस के इस आदर्श-वादी तत्वज्ञानी के विचारों की एक बानगी मैं यहाँ देता हूँ। टालस्टाय की परिभाषा में पाप, धर्म-शास्त्र के किसी विधि-निषेध का उल्लंघन नहीं है। जो कुछ प्रेम अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति मैत्री की अभिव्यक्ति में बाधक है, वही पाप है।

"वंश-रक्षा की प्रवृत्ति—काम-वासना मनुष्य में स्वभाव जन्य है। पशु-दशा में वह इस सहज वासना की तृप्ति कर अपने जीवन के प्रकृति—निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति करता है। इसी में उसका हित है।"

"पर चेतना के जगने पर उसका मन यह कहने लगता है कि इस वासना की तृप्ति से व्यष्टि रूप में उसकी अधिक भलाई होगी और वह उसकी तृप्ति जाति की रक्षा के उद्देश्य से नहीं, बल्कि अपने निज के भले के लिये करने लगता है। यही काम गत पाप है।"

"पहिली हालत में जब मनुष्य पवित्रता अर्थात् ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना और अपनी सारी शक्ति भगवान की आराधना में लगाना चाहता हो—सम्भोग-मात्र—उसका उद्देश्य बच्चे पैदा करना और उन्हें

पालना-पोसना हो, तो भी काम-गत पाप होगा। जिस आदमीने ब्रह्मचर्य का रास्ता अपने लिये चुना हो, शुद्धतम वैवाहिक जीवन भी उसके लिये एक स्वभाव कृत पाप होगा।"

"जिसने सेवा और पवित्रता या ब्रह्मचर्य का मार्ग अपने लिए चुना हो, उसके लिये विवाह इस कारण पाप या गलती है कि वह इस बन्धन में न बँधता, तो सम्भव है सबसे ऊँचा धंधा अपने लिये चुनता और अपनी सारी शक्तियाँ भगवान की सेवा में—फलतः प्रेम के प्रचार और व्यक्ति के परम श्रेय की भक्ति में लगाता। इसके बदले वह नीचे के स्तर पर उतर आता है और अपने परम श्रेय से वंचित रहता है।"

"जो व्यक्ति वंश-रक्षा के मार्ग पर चलना चाहता हो, उसके लिये विवाह न करना पाप होगा इस लिये कि बाल-बच्चों, अन्ततः कुटुम्ब के नेह-नाते से वंचित रह कर वह अपने आपको दाम्पत्य जीवन के सबसे बड़े प्रेम से वंचित रखता है।"

"इसके अतिरिक्त जो लोग सम्भोग-सुख को बढ़ाने का यत्न करते हैं उनका स्वाभाविक सुख—ज्यों-ज्यों उन्हें कामुकता की लत लगती है—घटता जाता है। सभी शारीरिक वासनाओं की तृप्ति में ऐसा होता है।"

"इन पंक्तियों से प्रगट होता है कि टॉलस्टॉय का सिद्धान्त नैतिक सापेक्ष्यवाद है। मनुष्य को परमेश्वर, पर-ब्रह्म किसी अवतारी धर्माचार्य ने नियत नहीं कर दिया है, हर एक को स्वयं उसे चुनना पड़ता है। हाँ, यह जरूरी है कि वह जो नियम, जो रास्ता, अपने लिये चुने उसका अनुसरण करें।"

"यह आचार-नीति ऊपर से नीचे की ओर आने वाला एक निषेध परम्परा का विधान करता है। जिस मनुष्य की नैष्ठिक ब्रह्मचर्य में पक्की निष्ठा है और जो ऊँचे शारीरिक मानस लक्ष्यों के लिये बुद्धि-पूर्वक संयम का पालन करता है, उसके लिये सब प्रकार का सम्भोग वर्जित है। जो आदमी विवाह-बन्धन में बँध चुका है उसके लिये पर-स्त्री

या पर-पुरुष का संग-निषिद्ध है। अविवाहित स्त्री-पुरुष के अनियमित या स्वच्छन्द सम्भोग में वेश्या-गमन या वेश्या-वृत्ति जैसे पतनकारी सम्बन्ध का निषेध होगा और प्राकृतिक रीति से कर्म करने वाले अप्राकृतिक बुराइयों से बचना चाहिये। अपनी काम-वासना की तृप्ति करने वाले के लिये भी अति सम्भोग हर हालत में दोष माना जावेगा और कच्ची उम्र के युवक-युवतियों को प्रौढ़वय को पहुँचने तक सम्भोग सुख की चाह दबा रखनी होगी। यही काम नीति है।"

ऐसा आदमी तो शायद ही मिले, जो इस सामान्य काम-नीति को समझ न सकता हो, और ऐसे भी विरले ही होंगे जो दिमाग पर जोर डाल कर सोचें, तो उसकी सचाई को अस्वीकार करें। हाँ, कु-तर्क से उसका विरोध करने की प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है। लोग यह मानते हैं कि चूँकि ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है, और विरले ही उसे निभा सकते हैं, इसलिये उसका उपदेश देना बेकार है। तर्क की दृष्टि से तो विवाहित स्त्री-पुरुष के पर-पुरुष या पर-स्त्री, शरीर-संग न करने से पति-पत्नी में भी विषय-भोग की अति न होने, या प्राकृतिक रीति से ही काम-वासना की तृप्ति करने के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वे एक आदर्श को अस्वीकार करते हैं तो आदर्श मात्र को कर सकते हैं और हमें गन्दी आदतों और कामुकता के गढ़े में गिरने की सम्मति दे सकते हैं। बुद्धि-विवेक हमें एक ही राह बताता है। 'आदर्श के ध्रुव तारे का अनुसरण।' यह ध्रुवतारा हमें मार्ग के गढ़ों से बचाता, और इस योग्य बनाता है कि हम एक नियम का सहारा ले उसके बल से विरोधी नियम पर विजय प्राप्त कर लें। इस प्रकार इस नीति-नियम का सोच-समझ कर और इच्छा-पूर्वक अनुसरण करके मनुष्य युवावस्था की अप्राकृतिक बुराइयों से दोषों से स्वाभाविक संभोग की स्थिति को पहुँच सकता है। भले ही वह अविवाहित, स्वच्छन्द हो। इस स्थिति से और ऊँची उठ कर वह एक निष्ठ दाम्पत्य-जीवन के बंधन में बँधेगा और अपने तथा अपने साथी के हित के लिये अपनी भोग-वासना पर

उतना अंकुश रखेगा जितना रख सकता है। यह नीति उसे ब्रह्मचर्य से होने वाले उच्चतर लाभों का अधिकारी बना सकती है। अति-भोग की अनेक बुराइयों के गढ़े में गिरने से तो निश्चय बचा सकती है।

"समाज व्यक्तियों के कार्य-कलाप का विस्तार और उनका एक लड़ी में गूँथा जाना है। अतएव सामाजिक काम-नीति भी वैयक्तिक काम-नीति से ही उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि समाज को वैयक्तिक सदाचार के नियमों को कुछ बढ़ाना और मर्यादित करना पड़ता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण विवाह की व्यवस्था है। विज्ञान के पंडितों ने विवाह के इतिहास पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं और इस विषय के तथ्य तो इतने सञ्चय कर दिये हैं कि उनका ढेर लग गया है। इसलिये आज जो सुधार सुझाये जा रहे हैं उनकी चरचा करने के लिये उक्त विद्वानों की रायों का निचोड़ दे देना भर काफी होगा।"

"प्राचीन-काल में मानव-वंश में माता का पद पिता से बड़ा था। देखिये राम को वन जाते समय माता कौशिल्या ने कहा था:—

"जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु-मातु कहेउ वन जाना। तौ काननशत अवध समाना॥"

माता ही संतानोत्पादन कार्य में प्रकृति की ओर से प्रधान कारण थी और है। इसी को लेकर, उसी को केन्द्र बनाकर कुटुम्ब की उत्पत्ति हुई। फलतः एक समय में माता का राज विश्व की व्यापक व्यवस्था थी। बहु पतित्व अर्थात् एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बन्ध उस समय जायज माना जाता था। एशिया की कुछेक जंगली जातियों में अब भी इस प्रथा के अवशेष पाये जाते हैं। इस प्रथा से और अज्ञातः जातियों और कबीलों के संगठन से भी पति के पद की उत्पत्ति हुई। एक स्त्री से सम्बन्ध अनेक पुरुषों में से जो सबसे अधिक बलवान और संरक्षण में समर्थ होता था, उसका पद अधिकार औरों से कुछ बड़ा होने लगा। पति का अङ्गरेजी पर्याय 'हस्बेंड' विवाह-प्रथा का इतिहास अपने भीतर

लिये हुये हैं। वह मूलतः 'Husbound' है, जिसका अर्थ है—घर में रहने वाला। उस पर घर में रहना फर्ज होता था, औरों पर नहीं होता था। धीरे-धीरे वह घर की रखवाली करने वाले के घर का मालिक बन गया। और पीछे कोई-कोई गृह-पति जाति का सरदार या, राजा भी बन गया। माता के राज्य अथवा स्त्री राज्य में जैसे बहु पतित्व की प्रथा उपजी थी, अथवा पुरुष के राज में बहु पतित्व का रिवाज पैदा हुआ और फैला।"

अतएव सामाजिक दृष्टि से नहीं तो मानस-शास्त्र की दृष्टि से पुरुष स्वभावतः अनेक पत्नियों की और नारी अनेक पतियों की कामना रखने वाली है। पुरुष अपनी कामना की किरणें सब ओर छिटकाता और जो स्त्री तत्काल उसे सबसे अधिक आकृष्ट करती, उसी पर उसे केन्द्रित करता है। स्त्री भी यही करती है, पर मनुष्य की प्रकृति-प्रेरित उसकी मनोरचना से अद्भुत अव्यवस्थित आवेगों पर थोड़ा बहुत अंकुश न रखा गया तो मनुष्य-समाज टिक नहीं सकता। चाहें फिर वह आदिक हो या आधुनिक मनुष्य से नीचे के सभी प्राणियों में ऐसे आवेगों की अतिशयता होती है। समाज को इन आवेगों के लिये विवाह के अतिरिक्त और कोई उपयुक्त अंकुश न मिला और अन्त में एक निष्ठ-विवाह एक स्त्री पुरुष के साथ एक स्त्री-पुरुष के व्याह या पति-पत्नी सम्बन्ध को ही अपनाना पड़ा। इसका विकल्प एक ही हो सकता है। स्वच्छन्दाचार और अन्ततः वर्त्तमान रूप में समाज का पूर्ण विनाश। दोनों जीवन-प्रणालियों का संघर्ष हमारी आँखों के समक्ष चल रहा है और हम उसे देख सकते हैं। वेश्यावृत्ति, अनियमित और अवैध सम्बन्ध, अप्राकृतिक व्यभिचार, तलाक रोज-रोज हमारे सामने इस बात का प्रमाण दे रहे हैं कि एक निष्ठ विवाह आदिम प्रकार के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के ऊपर अपनी सत्ता अभी स्थापित नहीं कर सका है। कभी कर सकेगा?"

"इस बीच हमें एक और उपाय की योग्यता पर विचार कर लेना होगा। वह है तो बहुत पुरानी चीज, पर पहिले वह लुक-छिप कर अपना

कार्य करती थी। इधर थोड़े दिनों से बिना घूँघट-बुरके के सामने आने लग गया है। उसका नाम है—'जनन निरोध'। और अर्थ है ऐसी दवाओं और बाह्य साधनों का व्यवहार जो गर्भ स्थिति न होने दें। गर्भ धारण में स्त्री पर तो बोझ पड़ता ही है, पुरुष को भी खास कर भले स्वभाव के पुरुष को भी उसके कारण काफी अरसे तक संयम रखना पड़ता है। जनन-निरोध संयम को अनावश्यक बना देता और इसका सुभीता कर देता है कि जब तक वासना या शरीर ही शिथिल न हो जाय, तब तक हम मनमाना सम्भोग-सुख भोगते रहें। इसका प्रभाव विवाह के सम्बन्ध के बाहर भी पड़ता है। यह अनियमित, अवैध और असफल सम्भोग का दरवाजा खोल देता है। जो आधुनिक उद्योग-धंधों, समाज-शास्त्र और राजनीति सबकी दृष्टि से खतरों से भरी हुई बात है। यहाँ इन बातों की विस्तार से चरचा नहीं की जा सकती। इतना ही कहना काफी है कि गर्भ-निरोध के साधनों से विवाहिता अवि-वाहित दोनों तरह के स्त्री-पुरुषों के लिये अति सम्भोग का सुभीता हो जाता है, और ऊपर मैंने शरीर-शास्त्र की जो दलीलें दी हैं वे सही हों तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होना अनिवार्य है।"

"किसान खेत में जो बीज बिखेरता है वे सभी उगते नहीं, वैसे ही यह निबंध-विचार भी कुछ ऐसे लोगों के हाथों में पड़ेगा जो इसे घृणा की दृष्टि से देखेंगे, कुछ तो अयोग्यता या निरे आलस्य से इसे समझेंगे ही नहीं, कुछ के लिये इसमें प्रकट किये हुये विचार बिलकुल नये होंगे और उनके मानस में वे क्रोध या विरोध की भावना भी जगा सकते हैं। परन्तु थोड़े से लोग ऐसे भी निकलेंगे कि जिन्हें वह सच्चा और काम का जान पड़े, मगर उनके मन में भी शंका उठेगी। उनमें जो सबसे भोले होंगे वे कहेंगे कि "आपकी दलीलों के अनुसार तो संभोग कभी होना ही नहीं चाहिये। तब तो ऐसा करने से दुनिया में जीवधारी रह ही न जायँगे। इसलिये आपकी राय गलत होनी ही चाहिये।" मेरा उत्तर यह है कि "मेरे पास कोई ऐसा खतरनाक नुस्खा नहीं है—जनन-

निरोध जन्म रोकने का सबसे प्रभावकर उपाय है और संयम या ब्रह्मचर्य की तुलना में बहुत जल्दी दुनिया को आदमियों से खाली कर देगा। मैं जो बात चाहता हूँ वह तो बहुत सीधी है। अज्ञान और असंयत भोग के मुकाबिले में दर्शन और विज्ञान की कुछ सचाइयों को खड़ा करके मैं अपने युग के स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की शुद्धि में सहायता करना चाहता हूँ।"

रोगों के मूल कारणों का पता लग जाने पर उनका निदान और उनकी चिकित्सा की बातें सरल हो जाती हैं। मनुष्य यदि अपने मन पर काबू पा जाये, तो सभी कुछ सम्भव हो सकता है। संसार कर जनन-संभोग, अप्राकृतिक व्यभिचार मनुष्यता को कलंकित करती चली जा रही है। मनुष्यों में जो पशुता का आरोप इस सम्बन्ध में किया जाता है, वह पशु-वर्ग के साथ अन्याय है। पशु-बहुत कुछ अंशों में पशु होते हुए भी मनुष्य-जाति से ऊँचे उठ चुके हैं। महात्मा गांधी ने मानवता को बहुत ऊँचे उठाना चाहा था। उसका स्तर उन्हें महत्त्व पूर्ण बनाना था। इन्हीं मुख्य उद्देश्यों पर वे बराबर चलते रहे। उन्होंने जो कुछ कहा देश के सामने, जो कुछ रखा सब उनके निजी अनुभव थे, जो प्राचीन भारतीय संस्कृतियों और संसार के सभ्य-समाजों के ऊपर अवलम्बित थे। यही कारण था कि उनका अधिक सम्मान उनके जीवन काल में ही रहा। दुनिया की हर गुत्थी को सुलझाने में गांधीवादी हर प्रकार से समर्थ होगा, यह मेरा निजी दृढ़ विश्वास है। भगवान हमें सुबुद्धि दे, हम गांधी जी के बताये मार्गों पर चलें और संसार में सच्चा-अध्यात्मिक-वाद स्थापित कर राम-राज्य को साकार कर के दिखलावें। शरीर-मन-बुद्धि-कर्म हर ओर से शुद्ध और पवित्र बनें। अप्राकृतिक दुष्कर्मों से बच कर सुख-सम्भोग पर नियंत्रण रखें। यही जीवन की सफलता का मूलमन्त्र है।

---

(६) अमर जीवन की साधना

संसार में यदि कोई अमर जीवन की साधना करना चाहता है, तो उसको संयमी बनना पड़ेगा—संयम, बिना-ब्रह्मचर्य के सम्भव नहीं इसके लिये मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसी से अमरत्व प्राप्त हो सकता है। महात्मा गांधी ने अमर जीवन की साधना की कैसी सुन्दर रूप-रेखा बताई है, देखिये न—

"अमर जीवन की साधना का मूल मंत्र 'ब्रह्मचर्य' है। इसका अर्थ केवल शारीरिक संयम ही नहीं है, वरन उसका अर्थ है समा इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार तथा मन-वचन और शरीर से भी काम-भाव से मुक्ति। इस स्वरूप में आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-प्राप्ति का यही सुगम और सच्चा रास्ता है।"

"आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या संतान की इच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता। यह कभी उसे होती ही नहीं। उसके लिये समस्त संसार विशाल परिवार होगा। मनुष्य-जाति के कष्ट दूर करने में ही वह अपने को कृतार्थ मानेगा। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उनके लिये अत्यन्त साधारण बात मालूम होगी। जो मनुष्य जाति दुःखों से पूरा पूरा परिचित है, उसे कभी कामेच्छा होगी ही नहीं। उसे अपने भीतर के शक्ति-कोष का पता अपने आप ही लग जायेगा और वह शुद्ध रखने की बराबर चेष्टा करता रहेगा। उसकी नम्र शक्ति पर संसार श्रद्धा रखेगा। और पद मास राजाओं से भी उसका प्रभाव बढ़ा-चढ़ा होगा।"

परन्तु मुझसे लोग कहते हैं कि यह आदर्श असम्भव है। आप तो नर और नारी के बीच के स्वाभाविक आकर्षण का ध्यान ही नहीं रखते। यहाँ जिसके कामुक खिंचाव की ओर संकेत है, मैं उसे स्वाभाविक मानने से ही इनकार करता हूँ। यदि वह स्वाभाविक हो, तो प्रलय की बातबात के बात में आया चाहती है। नर और नारी के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध वह है, जो भाई और बहिन में या बेटों में, बाप और बेटी में होता

है। उसी स्वाभाविक आकर्षण पर सारा संसार टिका हुआ है। मैं यदि सारी नारी जाति को माँ, बहन या बेटी न मानूँ तो अपना कार्य करना तो दूर, मैं जी ही नहीं सकूँगा। यदि काम-भरी आँखों से मैं उनकी ओर देखूँ, तो मेरे लिये नर्क का सबसे सीधा और सच्चा मार्ग और क्या होगा ?"

"सन्तानोत्पत्ति स्वाभाविक क्रिया अवश्य है, किन्तु निश्चित मर्यादा के भीतर। उस मर्यादा को तोड़ने से नारी जाति खतरे में पड़ती है। जाति समस्त का पुरुषत्व नष्ट होता है, रोग फैलते हैं; पाप का बोल-बाला होता है, और संसार पाप भूमि बनता है। कामनाओं के पन्जे में फँसा हुआ मनुष्य बेलंगर की नौका के समान होता है। यदि ऐसा आदमी समाज का नेता हो, अपने लेखों से वह समाज को व्याप्त कर दे और लोग उनके पीछे चलने लगे तो फिर समाज रहेगा कहाँ—और तो भी आज वही हो रहा है। मान लिया जावे कि प्रकाश के चारों ओर चक्कर लगाने वाला फतिंगा अपने क्षणिक आनन्द का वर्णन करे और उसे आदर्श मान कर उनकी नकल करें; तो हमारा कहाँ ठिकाना लगेगा ? नहीं, मुझे अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना ही पड़ेगा कि पति और पत्नी के बीच भी काम का आकर्षण अस्वभाविक और अप्राकृति है। विवाह का उद्देश्य दम्पति के हृदयों से विकारों को दूर कर के उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है। कामना-रहित प्रेम पति और पत्नी के बीच असम्भव नहीं है। मनुष्य, पशु नहीं है। पशु योनि में अगणित जन्म लेने के बाद वह उस पद पर आया है। उसका सिर ऊँचा करके चलने के लिये हुआ है। लेटे-लेटे या पेट के बल रेंगने के लिये नहीं। पुरुषत्व से पाशविकता उतनी ही दूर है, जितनी आत्मा से शरीर।"

"इन्द्रियों पर क्रमशः अधिकार करना—यह अमर जीवन की साधना का दूसरा अनुभूत प्रयोग है। ब्रह्मचारी को जीभ पर अधिकार पाना ही होगा। वह जीवन धारण के लिये ही खा सकेगा, आनन्द के लिये नहीं। उसे केवल पवित्र वस्तुएँ ही देखनी और अपवित्र वस्तुओं की ओर से आँखें मूँद लेनी होंगी। इधर-उधर आँखें न नचाते

हुए दृष्टि नीचे की ओर करके रास्ता चलना शिष्टता का चिन्ह है। इसी तरह अमर जीवन की साधना का चिन्तक कोई अश्लील या बुरी बात नहीं सुनेगा, कोई बलवान या उत्तेजक गन्ध नहीं सूँघेगा। पवित्र मिट्टी की गन्ध, बनावटी इत्र और सुगन्धियों से कहीं अच्छी होती है। ब्रह्मचारी को चाहिये कि जब तक वह जाग्रतावस्था में रहे अपने हाथ-पाँव से कोई-न-कोई अच्छा काम लेता ही रहे। वह कभी-कभी उपवास कर लिया करे।"

"इस सम्बन्ध का तीसरा काम है शुद्ध सात्विक विचार के साथियों, निष्कलंक मित्रों और पवित्र, उपदेश-प्रद पुस्तकों का रखना। यह तीनों अपने सच्चे साथी और मित्र हैं। इनका कृपा और सहारा पाकर मनुष्य जीवन अमरत्व प्राप्त कर सकता है। साथी, मित्र और पुस्तकें निर्मल विचार-धारा उत्पन्न करती और मानुषिक जीवन का सच्चा निखरा स्वरूप प्रदान करतो हैं। यदि कोई व्यक्ति 'साधना' की सफल तपस्या करता है, वही अमर साधना मन्दिर का पुजारो बनता है।"

इस विषय का अन्तिम कार्य जो साधक को करना है—"वह है प्रार्थना। यह किसी से कम महत्व वाला नहीं। 'साधक' नित्य ही एकाग्र चित्त और शुद्ध मन से 'राम' नाम का जप किया करे और ईश्वर की सहायता की बराबर कामना किया करे। साधारण पुरुष या स्त्री के लिये इनमें कोई बात कठिन नहीं है; किन्तु इनकी सादगी से ही लोग घबड़ाते हैं। जहाँ चाह है वहाँ राह भी सरलता से मिल जायेगी। लोगों को इसकी चाह नहीं होती और इसीलिये वे व्यर्थ की ठोकरें खाते हैं। इस बात से कि संसार का आधार कुछ-न कुछ इसी पर निर्भर है कि लोग संयम से रहें, ब्रह्मचर्य्य-व्रत का पालन करें। इन सब आवश्यक अनिवार्य और सम्भवकारी कार्यों से ही अमर जीवन की साधना पूर्ण की जा सकती है। इसीसे मनुष्य का बेड़ा पार लग सकता है। भगवान, मनुष्य का संकल्प ऐसा दृढ़ करे जिससे वह अपने महान् व्रत में कृत-कार्य हो।

महात्मा गांधी के अनुभूत प्रयोग ही इस ओर किसी व्यक्ति को प्रेरित सकते हैं।"

---

(७) जीवन के मनोरम उद्देश्यों की पूर्ति

यह संसार विचित्रताओं का एक ऐसा द्वन्द्व-स्थल है, जहाँ जीवन के विभिन्न प्रकार के खिलाड़ी अपनी कला दिखलाया करते हैं। सभी चाहे जिस ढंग से हो अपने उद्देश्यों की पूर्ति में तल्लीन रहते हैं। इतना ही नहीं बहुतों को पाप-कर्मों से बढता देख पाप-वासनायें भी दिल में घर कर जाती हैं, किन्तु संयमी पुरुष अपने जीवन के मनोरम उद्देश्यों की पूर्ति इससे भिन्न मार्ग पर चल कर करता है, वह सहसा किसी ओर आकर्षित नहीं होता। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने कुछ व्यक्तियों की मनोगत बातों का उल्लेख करके एक प्रशस्त मार्ग दिखलाया है, जिस पर एक व्रती व्यक्ति चलकर अपने जीवन के मनोरम उद्देश्यों की पूर्ति करता है। जीवन का मनोरम उद्देश्य क्या है, इसकी विवेचना एक संयमी के लिये दूसरी होगी और कामुक विषयी व्यक्ति के लिये दूसरी; किन्तु संसार-सागर की उत्ताल तरंगों की थपेड़ों में चल कर पार लगने वाला व्यक्ति अध्यात्मवाद की अपनी सिद्धि का ही उद्देश्यों की चरम प्राप्ति समझता है। यह एक ब्रह्मचारी के लिये ही सम्भव हो सकता है—

"एक मलाबारी सज्जन 'ब्यूरो' की पुस्तक की अपनी समालोचना में लिखते हैं कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि ब्रह्मचर्य-पालन वा दीर्घकाल के संयम से किसी को कुछ हानि पहुँची हो; अस्तु अपने लिये तो तीन सप्ताह से अधिक दिनों तक संयम रखना हानिकारक ही मालूम होता है। इतने समय के पश्चात् प्रायः मेरे शरीर में भारीपन का, तथा चित्त और अंग में बेचैनी का अनुभव होने लगता है, जिस से मन भी चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। विश्राम तभी मिलता है जब

सम्भोग द्वारा या प्रकृति की कृपा होने से, योंही कुछ वीर्य-पात हो लेता है। दूसरे दिन प्रातःकाल शरीर वा मन की निर्बलता का अनुभव करने के बदले में शान्त और हलका हो जाता हूँ और अपने काम में अधिक उत्साह से लगता हूँ।"

"मेरे एक मित्र को तो संयम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है उनकी आयु कोई बत्तीस वर्ष की होगी। वे बड़े ही कट्टर-शाकाहारी और धर्मिष्ट पुरुष हैं। उनके शरीर या मन का एक भी दुर्व्यसन नहीं है; किन्तु तो भी दो साल पहिले तक उन्हें स्वप्न-दोष में बहुत वीर्य-पात हो जाया करता था जिसके बाद वह बहुत निर्बल और निरुत्साह हो जाते थे। उसी समय उन्होंने विवाह किया। पेट के पीड़ा की भी कोई बीमारी उन्हें उसी समय हो गई। किसी आयुर्वेदिक वैद्यराज की सलाह से उन्होंने विवाह कर लिया और अब वे बिलकुल अच्छे हैं।"

"ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता को जिस पर हमारे सभी शास्त्र एकमत हैं मैं बुद्धि से तो मानता हूँ परन्तु जिन अनुभवों का वर्णन मैंने किया है उनसे तो स्पष्ट है कि शुक्र ग्रन्थियों से जो वीर्य निकलता है उसे शरीर में ही पचा लेने की शक्ति हममें नहीं है। इसलिये वह विष बन जाता है। अतएव मैं आप से सविनय अनुरोध करता हूँ कि मेरे समान लोगों के लिये जिन्हें ब्रह्मचर्य एवं आत्म-संयम के महत्व के विषय में कुछ सन्देह नहीं है, 'हठ-योग' का प्राणायाम के कुछ साधन बताइये, जिनके सहारे हम अपने शरीर में इस प्राण-शक्ति का पचा सकें और 'हमारे जीवन के मनोरम उद्देश्यों की पूर्ति' सरलता-पूर्वक हो सके।"

"हमारे इन भाइयों का अनुभव साधारण नहीं है, वरन् बहुतों के ऐसे ही अनुभवों के नमूने मात्र हैं। ऐसे उदाहरण मैं जानता हूँ कि जब अपूर्ण प्रमाणों को ही लेकर साधारण नियमों के निकालने में उतावली की गई है। उस प्राण-शक्ति वीर्य को शरीर में ही बचा रखने और फिर पचा लेने की योग्यता बहुत अभ्यास से आती है। ऐसा तो होना भी

चाहिये क्योंकि किसी अन्य साधना से शरीर और मन को इतनी शक्ति प्राप्त नहीं होती। यह माना जा सकता है कि दवायें और यन्त्र शरीर को अच्छी और काम चलाऊ दशा में रख सकते हैं किन्तु उनसे चित्त इतना निर्बल हो जाता है कि वह मनोविकारों का दमन नहीं कर सकता और यह मनोविकार प्राण-घातक शत्रु के समान हर किसी को घेरे रहते हैं।"

"हम काम तो वैसे करते हैं जिनसे लाभ तो दूर; उलटे हानि ही होनी चाहिये परन्तु साधारण से संयम से ही बहुत लाभ की आशा बार-बार किया करते हैं। हमारा साधारण जीवन-क्रम विकारों को तृप्त करने के लिए ही बनाया जाता है। हमारा भोजन, साहित्य, मनोरंजन, काम का समय, यह सभी कुछ हमारे पाशविक विकारों को ही उत्तेजित और सन्तुष्ट करने के लिए निश्चित किये जाते हैं हम में अधिकांश की इच्छा विवाह करने और लड़के पैदा करने की भले ही थोड़े संयत रूप में हो किन्तु उद्देश्यों की पूर्ति करके साधारणतः सुख भोगने की ही होती है।" अन्त तक कुछ न कुछ ऐसा होता ही रहेगा।

"किन्तु साधारण नियम के अपवाद सदैव से होते आये हैं। वैसे अब भी होते हैं। ऐसे भी मनुष्य हुये हैं जिन्होंने मानव-जाति की सेवा में या यों कहिये कि भगवान की ही सेवा में, जीवन लगा देना चाहा है। वे विश्व-कुटुम्ब की और अपने कुटुम्ब की सेवा में अपना समय अलग-अलग नहीं बाँटना चाहते अवश्य ही ऐसे मनुष्यों के लिये उस प्रकार रहना सम्भव नहीं है; जिस जीवन से मुख्य कर किसी व्यक्ति विशेष की ही उन्नति सम्भव हो। जो भगवान की सेवा के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लेंगे, उन पुरुषों को जीवन की ढिलाइयों को छोड़ देना पड़ेगा और इस कठोर संयम में ही सुख का अनुभव करना होगा। 'संसार में' भले ही रहें; किन्तु वे संसारी नहीं हो सकते। उनका भोजन, धन्धा, कार्यकाल, मनोरंजन साहित्य और जीवन का उद्देश्य आदि सर्वसाधारण से अवश्य ही भिन्न होंगे।"

"अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि क्या पत्र लेखक

और उनके एक मित्र ने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन को अपना ध्येय बनाया था और क्या अपने जीवन को उसी ढाँचे में ढाला भी था। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया था तो फिर यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं होगी कि वीर्यपात से एक आदमी को विश्राम मिलता था और दूसरे को निर्बलता क्यों होती थी। उस दूसरे आदमी के लिये तो 'विवाह' ही दवा थी। अधिकांश मनुष्यों के अपनी इच्छा के विरुद्ध भी जब मनमें विवाह का ही विचार भरा हो; तो उस स्थिति में उन मनुष्यों के लिये विवाह ही प्रकृत और इष्ट है। जो विचार दबाया न जाकर अमूर्त ही छोड़ दिया जाता है। उसकी शक्ति, वैसे ही विचार की अपेक्षा जिसको हम पूर्ण कर लेते हैं अर्थात् जिसका व्यवहार कर लेते हैं कहीं अधिक होती है। जब उस क्रिया का हम यथोचित संयम कर लेते हैं तो उसका प्रभाव विचार पर भी पड़ता है और विचारों का संयम भी होता है। इस प्रकार जिस विचार पर अमल कर लिया वह बन्दी सा बन जाता है और वश में आ जाता है। इस दृष्टि से विवाह भी एक प्रकार का संयम विदित होता है और उद्देश्यों की पूर्ति का एकमात्र सहायक समझा जाता है।"

"मेरे लिये एक अखबारू लेख में, उन लोगों के लाभ के लिये जो नियमित संयत जीवन बिताना चाहते हैं, विवरण के साथ सम्मति देनी ठीक न होगी। उन्हें तो मैं कई वर्ष पहिले इसी विषय पर लिखे हुये अपने ग्रन्थ "आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान" को पढ़ने की सम्मति दूँगा। नवीन अनुभवों के अनुसार उसे कहीं कहीं दोहराने की आवश्यकता अवश्य है; किन्तु उसमें एक भी बात ऐसी नहीं है जिसे मैं लौटाना चाहूँ। हाँ, साधारण नियम जीवन के मनोरम उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यहाँ भले ही दिये जा रहे हैं:—

(१) भोजन-वस्त्र की व्यवस्था में सदैव संयम से काम लेना चाहिये थोड़ी मीठी भूख रहते ही; चौके से सदैव उठ जाना और सादे वस्त्रों, स्वच्छ और निर्मल का ही सर्वदा उपयोग करना श्रेयस्कर है।

(२) बहुत ही गर्म मसालों और घी-तेल से बने हुये शाकाहार से अवश्य बचना चाहिये। जब दूध पूरा यथेष्ट मिलता हो; स्निग्ध घी, तेल, आदि चिकने पदार्थों को अलग से खाना एकदम अनावश्यक है। जब प्राणशक्ति 'वीर्य' का थोड़ा ही नाश हो; अल्प भोजन भी पर्याप्त होता है।

(३) मन और शरीर को सदैव ही शुद्ध कार्यों में लगाये रहना चाहिये।

(४) रात्रि को जल्दी सो जाना और सवेरे जल्दी उठ बैठना परमावश्यक है।

(५) सबसे बड़ी बात तो यह है कि संयत जीवन व्यतीत करने में ही ईश्वर की प्राप्ति की उत्कट जीवन अभिलाषा मिली रहती है। जब इस परमतत्व का अनुभव प्रत्यक्ष हो जाता है। उस समय ईश्वर के ऊपर यह विश्वास बराबर बढ़ता ही जाता है कि वह स्वयं ही अपने इस यंत्र मनुष्य शरीर को विशुद्ध और चालू रखेगा। देह को विषयाशक्त न बनाकर संयत जीवन बिताना ही लाभकर है।"

पत्र-लेखक आसन और प्राणायाम की बातें करते हैं, मेरा विश्वास है कि आत्मसंयम में उनका महत्वपूर्ण स्थान है; किन्तु मुझे खेद है कि इस विषय में मेरे अपने किये हुये अनुभव, कुछ ऐसे नहीं जो लिखने योग्य हों। जहाँ तक मुझे विदित है इस विषय पर इस समय के अनुभव के आधार पर लिखा हुआ साहित्य है ही नहीं परन्तु यह विषय अध्ययन करने योग्य अवश्य है किन्तु मैं अपने अनभिज्ञ पाठकों को इसके प्रयोग करने या जो कोई हठयोगी मिल जाय; उसी को गुरू बना लेने से सावधान कर देना चाहता हूँ। उन्हें निश्चय जान लेना चाहिये कि संयम और धार्मिक जीवन में ही अभीष्ट संयम के पालन की पर्याप्त शक्ति है।"

"संसार में वही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है जिस का मन वचन और कर्म सब एक समान रहे; वह अपने शरीर और मन को

यथावत् संयमित रख कर जीवन की यात्रा में बराबर अग्रसर होता रहे कर्त्तव्य-परायणता साफल्य की एक मात्र कुंजी है। शरीर सबल हो अथवा न हो आत्मा बलवती होनी आवश्यक है। इसी के आधार पर परमात्मा का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। सारे हठ योगों और प्राणायाम का मूल मंत्र यही है कि हम अपने मन को अपने वश में करके शरीर यंत्र का भली प्रकार संचालन करें इसी से सभी अवयव नियंत्रित रहेंगे, हृदतंत्री के मनोरम वीणा के तार बराबर मनन करते रहेंगे। उनकी मनोरम स्मृतियाँ जीवन में सुनहली घड़ियाँ उपस्थित करेंगी। प्रकृति की विशाल गोद में अपना सिर रखकर भगवद्भक्ति की आराधना में चित्त लगाना चाहिये। ऐसी परिस्थिति में पूर्ण हठ-योग बिना प्राणायाम आसन के ही पूर्णता लावेगा। सारे हठ योगों का मूल मंत्र यही 'राम' नाम का जप है। नित्य नियम पूर्वक 'राम-स्मरण' ही इस विकट परिस्थिति का एकमात्र आधार है। शुद्ध सात्विक जीवन बिताना, आहार विहार में संयम का पूर्ण ध्यान, किसी भी समय बिना कार्य का न रहना भोगी और विलासी जीवन से दूर रहना यही कुछ विशेष नियम ऐसे हैं कि जिनके व्यवहार का निरन्तर अभ्यास ही 'हठ योग' और प्राणायाम का विशेष अनुभव हो सकता है। इन्हीं सुपथ पर चल कर जीवन सुधारा जा सकता है, और प्राप्त किया जा सकता है अपने जीवन का मनोरम उद्देश्य।"

उपसंहार

संसार में दो परस्पर विरोधी भावनाएँ हर स्थान पर कार्य करती हैं। एक ओर जहाँ 'संयम' है, तो दूसरी ओर 'भोग'। एक ओर फूल बिछे हैं, तो दूसरी ओर काँटे। 'संयम' से जहाँ आत्मनिग्रह होता है, वैसे ही वहाँ भोग से आत्म-विनाश। 'संयम' यदि वादी है, तो प्रतिवादी 'भोग' है। 'संयम' से सच्चा-सुखकर प्रशस्त मार्ग दिखलाई पड़ता है और भोग से झूठा, दुःख-जनक और टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डी का आश्रय मिलता है। इन्हीं दोनों मार्गों में से मनुष्य एक को चुनता और अपना जीवन उस पर अग्रसर करता है। योग-सम्भोग-वासना-कामाग्नि शरीर में प्रतिक्षण सुलगा करती है। ईश्वर ही जिसे इससे बचावे वही बच सकता है। 'आत्म-संयम' की ओर जाने में दिल हिचकिचाता और उधर अभियान नहीं करता। 'संयम' की सीढ़ी पर चढ़ता और दूसरे ही क्षण फिसलता दिखलाई पड़ता है। वह भोग की मन-मोहक वल्लरियों पर झूला झूलना चाहता है। वह सांसारिकता में फँसता और मानवता को कलंकित करनेवाला बन जाता है। पूज्य बापू ने बताया है कि "सच्चा सुख 'संयम' में है। नरक जैसा अपार दुःख-स्थल 'भोग' है। मनुष्य जब से चेते, तब से ही सही। वह जितने दिन संयम से रहेगा—ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, उतनाही उसके लिये सुख-दायक वातावरण प्रस्तुत होता रहेगा। इसके विपरीत भोग-वासना में लिप्त व्यक्ति पागलों की तरह अपने अव्यवस्थित-चंचल जीवन से संसार के लिये एक भार बनेगा।" श्री 'वेनजामिन जोवेट' ने कहा है'—कि अपनी तमाम विपत्तियों का निराकरण 'आत्म-संयम' की कुंजी से होगा, इसके अभाव सारे दुर्गुण शरीर में घर कर जाते हैं, जो 'संयम' द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं, जिसने अपने को जीत लिया है, वह विजयी सेनापति से

भी श्रेष्ठ है। जब कोई अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसकी सहायता उसके निकटवर्ती लोग भी करने के इच्छुक होते हैं। आत्म-संयम-युक्त जीवन कठिन नहीं, अपितु आनन्ददायक है। इससे बुद्धि निर्मल होती है। सत् और असत् का विवेक बढ़ता है। यदि इसके अभ्यस्त हो जायें तो हमारा चरित्र उज्ज्वल होगा। आत्म-संयम' स्वाधीनता का सच्चा स्वरूप है, जिससे हमारे तन और मन दोनों लाभान्वित होते हैं, जिससे उनके सदुपयोग में हमें शिक्षा मिलती है। और युवतियों को इस ओर अधिक ध्यान देना है। उन्हें अपनी आदतों पर विशेष 'कन्ट्रोल' नियन्त्रण रखना है। स्वभाव सदैव साथ रहता है। यह स्थायी होता है यदि वह अच्छा हुआ तो उनका बेड़ा पार लग सकता है, नहीं तो मझधार में ही उन्हें डुबकियाँ लगानी पड़ेंगी। यह याद रखना चाहिये कि "जहाँ चाह है, वहाँ ही राह है। यदि चाह नहीं, तो हुज्जतों का ढेर है। कर्त्तव्य का अन्त और इसका आरम्भ आत्म-संयम द्वारा ही सुन्दर ढंग से होता है। हम अपने यौवन में अपने को भूल जाते हैं। हम समझते ही नहीं कि यौवन का कोई समय नहीं वह कुसुम कपोलों अथवा सुन्दर अँगों का नाम नहीं। यह तो मस्तिष्क की एक भावना है। कोई अपने आत्म-विश्वास के अनुरूप ही युवा रहता है और इसके विपरीत वृद्ध। युवा-काल की क्षणिक निराशा जीवन का 'राम-रस' है। इसी में हमें आत्म-विश्वास-प्राप्त होता है जो पर्वत को राई बनाता है। युवा बनने के हेतु निराशा को मार भगाना होगा, तभी हमारी निराशा आशा में परिणत हो सकेगी और यह होगा 'संयम' से।

बालक एवं बालिकाओं को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए कि जिससे सत्य, शिवम्, सुन्दरम् अथवा अटल उपयोगी, तथा उचित कार्यों का और उनके आपसी सम्बन्ध का नैसर्गिक ज्ञान करा दे। शिक्षा देने का अर्थ नवीन ज्ञान देना नहीं, वरन उसकी उपयोगिता को बढ़ाना है जो उसमें पहिले नहीं थी। इसी पर आत्म-संयम की भी शिक्षा अपने

को निर्भर करती है। शिक्षा का यही रूप स्वतन्त्र-भारत में अनुकूल होगा। मनुष्य को सर्वदा थोड़ा अध्यापन, अधिक मनन, थोड़ा बोलना और अधिक सुनना ज्ञान देता है। उत्तम प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का 'मनन' है मध्यम प्रकार दूसरों का अनुकरण, और तृतीय प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का अनुभव है जो अत्यन्त कष्ट-साध्य है। इसी के द्वारा पूज्य बापू ने अपने अनुभूत प्रयोग जगत के सामने रखे। उन्होंने आत्म-संयम के भ्रांत कष्ट-साध्य अनुभव को सुख-साध्य बना डाला। लोग समझते हैं कि भोग में सुख है। किन्तु यह नहीं—'योग में क्षणिक सुख और आनन्द अवश्य है—जो धीरे-धीरे आगे चल कर दुःख का उमड़ता सागर बन जाता है। स्थायी और चिरशान्ति देनेवाला सुख तो आत्म-संयम में ही है। एक ब्रह्मचारी अपनी अनन्त आत्मा में जो सुख का अनुभव करता है वह एक भोगी-विलासी व्यक्ति को कहाँ नसीब हो सकता है।

यही सोच और समझ कर हर व्यक्ति को 'संयम' करना सीखना चाहिये। लोग कहते हैं कि बालक को या किसी के बच्चे को जो अबोध होता है—कोई दुग्धपान करना नहीं सिखलाता। माता का दूध वह स्वयं पीने लगता है। इसी प्रकार 'सम्भोग' की भी क्रिया कोई किसी को नहीं सिखलाता। मैं कहता हूँ कि जहाँ माता का दुग्ध पान प्राकृतिक होकर बच्चे को श्रेयस्कर होता है, वहाँ ही 'रति-कर्म' सम्भोग का समुचित परिज्ञान हुए बिना चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा अप्राकृतिक। पहिली दशा में हो सकता है कम; किन्तु दूसरी दशा भयंकर परिस्थिति ला देता है। मनमाने-ढंग से पशुओं से भी गिरा व्यवहार इस दिशा में हम करते हैं—भोगने पर पछताते और हाथ मलते हैं। जहाँ और प्रकार की शिक्षा मनुष्य को मानव बनाने के लिये दी जाती है वहाँ ही इतना उपयोगी और जीवन-सुधार का अनिवार्य अंग अछूता क्यों छोड़ दिया जाता है। मैं सच कहता हूँ कि सदाचार-विषय का सम्भोग क्रिया, ब्रह्मचर्य आदि विषयों की शिक्षा का अभाव ही इन सब दुस्कृत्यों का प्रधान कारण है। बिना जाने एक युवक या युवती पतन की ओर जाने लगते हैं। यदि

उसके भयंकर परिणामों से वे परिचित होते तो सम्भवतः वे ऐसा घोर पाप न कर बैठते। अनैतिकता की ओर हम बिना जाने-सुने अनायास चले जाते हैं, किन्तु इतना पतन होने पर भी यदि हम अब से भी चेत जायँ तो कुछ हर्ज नहीं। संध्या का भूला यदि प्रातः घर पहुँच जाता है तो ठीक ही है। हमारे नवयुवक एवं नवयुवती ही इसकी बहुत कुछ उत्तरदायिनी हैं। उन्हें चाहिये कि विषय-वासना की ओर अपना मन ले ही न जावें। ऐसा कब होगा—जब वे केवल विद्याध्ययन के अभ्यासी बनें। सिनेमा, गन्दे गाने, गन्दे उपन्यास, आदि को अपने लिये हानिकर समझें। वे 'प्रेम' और 'लव' को जीवन के विनाश के लिये न करें—ईश्वर और प्रकृति के लिए करें। मानवता का पुजारी बनने के लिए करें। अबोध बालक यह जानता नहीं कि हमें किस ओर ले जाया जा रहा है। किसी कुटेव में जहाँ वह फँसा—फिर मकड़ी के जाले में फँसी मक्खी की भांति उलझता ही जाता है। अन्त में जीवन से निराश हो अपनी इहलीला समाप्त कर देता है। कितना घोर पतन है। हमें हर ओर चैतन्य दृष्टि से देखना है। धार्मिक भावनाओं से शून्य राम-नाम विस्मरण करने वाले समाज की यही अधोगति होनी चाहिए। भविष्य के सुनहले सपनों और वर्त्तमान भोग-विलास की सामग्रियों से भी बहुतों का पतन हो जाया करता है। निर्धनता भी इसमें कम हाथ नहीं बँटाती। किसी कार्य के करने के पहिले हमें उस स्थान पर ईश्वर को उपस्थित समझ लेना चाहिए। यदि ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जावे तो पाप कर्म तो बिलकुल ही बन्द हो जावें। बड़े-बड़े की बातों को सुनकर, उनके कृत्यों को देख कर भी बालकों एवं बालिकाओं में दुर्भावनायें उत्पन्न हो जाया करती हैं। इतना सब कुछ हो जाने पर हम भाग्य और होनहार का आश्रय लेते हैं, पूर्व जन्म के कर्मों को अपराधी ठहराते हैं; किन्तु तत्काल किये गये कर्मों को नहीं सोचते, जिसके कि वे स्वयं कारण हैं। यदि हम अभी चेत जाये तो दिल्ली दूर नहीं शुभ दिन आ ही सकते हैं। जहाँ और सुधारों के लिये दुनिया सतत् प्रयत्न करती है, वहाँ ही

उसका शतांश भी यदि इधर ध्यान दिया जाने लगे, तो अपराध भार भी कम हो जाता और संसार का काया-पलट आनन फानन हो जाता।

मनुष्य के सुधार में उसका 'चरित्र' ही प्रधान हुआ करता है। यही वह कसौटी है जिस पर मनुष्य को खरा और खोटा आँका जा सकता है। हमारे नित्य प्रति के कार्यों का माध्यम ही हमारा 'चरित्र' है। हम इधर ही भले न ध्यान दें; किन्तु यह ही हमको निरन्तर एक अज्ञात दिशा को लिये चला जा रहा है। यदि हमारे चरित्र ठीक रहें; तो हम एक निर्दिष्ट सुखी स्थल में पहुँच जावेंगे; नहीं तो विनाशकारी लीला चली तो निश्चित् रूप से मिलेगी ही। यह सोचकर हमें अपने चरित्रों के सुधार में अनवरत परिश्रम करना चाहिये। यह 'संयम' द्वारा ही होगा। 'भोग' तो इसमें बाधक होता ही है। इसी से हमें वह साधन चुनना है; जो लोकोपकारी है। चिन्तन और अनित्य है। भगवान की लीला विचित्र है। वहाँ न्याय में देर है; किन्तु अन्धेर नहीं; विपरीत इसके हमारे विरुद्ध आचरणों का दंड तो हमें प्रकृति की ओर से अविलम्ब मिल ही जाया करती है; किन्तु इतना होते हुये भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।

संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो कि अपनी सन्तानों को दुश्चरित्र देखे। दुश्चरित्र व्यक्ति भी ऐसा नहीं चाहेगा; किन्तु चाहने से तो कुछ होता नहीं यदि हम इधर सक्रिय होकर कुछ करें तभी तो कुछ हो सकता है। महात्माओं ने बताया है कि:—

* "प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि" ॥ १ ॥

"अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नाव सीदति" ॥ २ ॥

---

* "मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र की आलोचना करना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि मेरा आचरण पशु के तुल्य है अथवा सत्पुरुष के सदृश" ॥ १ ॥ "यदि सज्जनों के बताये मार्ग पर

"सद्भिरेव सहा सीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम ।
सद्भिर्विवादं मैत्री च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत" ॥ ३ ॥
"जल-विन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्व विद्यानां धर्मस्य च धनस्य च" ॥ ४ ॥
"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणाच्छेदन तापताऽनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा" ॥ ५ ॥

इस प्रकार धीरे-धीरे प्रयत्न करके कोई भी सदाचारी और संयमी बन सकता है। 'संयम' में विवाह की प्राकृतिकता बहुत बड़ा साथ देती है। वैवाहिक बन्धनों की अनियमितता संयम में बन्धक होती है। विवाह सम्बन्धी बहुतेरी और मौलिकता में पाश्चात्य और के दृष्टिकोणों में बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ पाश्चात्य-सभ्यता में प्रेम का उदय और उसका स्थायी रहना प्रेम-विवाह पर अवलम्बित है और प्राच्य देश में विवाह के पश्चात् उदय होने वाली भावनाओं को ही प्रेम के उदय होने और स्थायी रहने का साधन समझते हैं। विवाह का

जितना चलना चाहिये, उतना नहीं चल सकते; तो थोड़ा ही थोड़ा चल कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। रास्ते पर जब पाँव रखोगे; तो सुख मिले ही गा" ॥ २ ॥ "सज्जनों के साथ बैठना चाहिये, सज्जनों की संगति में रहना चाहिये और सज्जनों के ही साथ मैत्री या विवाद करना चाहिये। दुर्जनों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिये" ॥३॥ "बूँद-बूँद पानीसे जैसे घड़ा भरता है, वैसे ही विद्या, धर्म और धन भी धीरे-धीरे पूर्णता को प्राप्त होते हैं" ॥ ४ ॥ "जिस प्रकार से सोने की घिसने, काटने, तपाने और पीटने से इन चार बातों से ही परख होती है; ठीक उसी प्रकार से मनुष्यों की परीक्षा विद्या, स्वभाव, गुण और क्रिया इन चार बातों से की जाती है" ॥ ५ ॥

प्रधान उद्देश्य प्रेम भावना का उदय होना और उसका स्थायी रहना है; परन्तु दोनों जगहों में यह दृष्टिकोण का अन्तर और उसमें परिवर्त्तन सम्भवतः संस्कृति, रहन-सहन, जल-वायु और स्वतन्त्रता के प्रभाव के कारण है; किन्तु गुण और अवगुण तो दोनों में है ही। इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य देशों में एक मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन-साथी ढूँढ़ने में प्रेम-विवाह के कारण बहुत सी सुविधायें हैं। भावी पति और पत्नियाँ दोनों एक दूसरे के स्वभाव, रहन-सहन, विचारधारा आदि से प्रत्यक्षरूप में केवल परिचित ही नहीं हो जायँगे; बल्कि प्रेम-भावना के उत्पन्न होने के साथ-साथ उनके प्रभावों को भी ग्रहण किये बिना न रहेंगे। परन्तु मनोवैज्ञानिकों से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि ऐसी दशा में दोनों एक दूसरे पर केवल अपने गुणों को ही प्रगट करेंगे और इस प्रकार अपने प्रेम को चरमसीमा तक पहुँचा देंगे; किन्तु विवाह के पश्चात् जब कि उनके अवगुण एक दूसरे पर प्रगट होंगे अथवा स्वभाव और रहन-सहन भले ही वे दोषपूर्ण न हों, परन्तु एक दूसरे को अग्राह्य हों; तो उनके मस्तिष्क पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ेगा। विवाह उन्हें विश्वासघात प्रतीत होगा और उनकी दृष्टि में इस पवित्र बन्धन का महत्व कम हो जावेगा। इसलिये हम विवाह से पूर्व के उदय हुये प्रेम को अस्थायी कहने के लिये बाध्य हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य देश तलाक करने वालों की उत्तरोत्तर वृद्धि को देखकर घबरा उठा है।

इसके विपरीत प्राच्य देशों में विवाह-बन्धन एक स्थायी प्रेम का द्योतक है। भावी पति तथा पत्नी एक दूसरे से नितान्त अपरिचित रहते हैं। कदाचित दोनों एक दूसरे के लिये गुणों की खान हों। और दोनों यही समझते हों कि मुझ में जो बातें हैं; उसे वही प्रिय हों अथवा उसमें अवगुण ही अवगुण भरे हों। यह भी सम्भव है कि उसमें वे बातें हों; जिन्हें मैं अच्छा समझता हूँ इन्हीं विचारों के साथ विवाह होता है; दोनों ही एक दूसरे के गुणों और अवगुणों के विषय में कोई धारणा

नहीं रखते। विवाह के पश्चात् एक दूसरे के मस्तिष्क में कोई ऐसा परिवर्त्तन नहीं होता जो उनके प्रेम में बाधा डाल सके। यदि दोनों एक दूसरे के अनुकूल हुये; तो अच्छा ही है। एक स्थायी प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया। यदि कुछ बातों में एक दूसरे के प्रतिकूल हैं; तो दोनों के मस्तिष्क में परिवर्त्तन आरम्भ होता है। यह परिवर्त्तन शोक से नहीं, जैसा कि पाश्चात्य देशों में विवाह हो जाने पर होता है बल्कि उन प्रयत्नों के असफल होने के कारण होता है। जो उन दोषों के प्रभावों को दूर करने लिये किये जाते हैं। यदि उन्हें दूर न किया जाय; तो ऐसा हो कि दोनों उन्हें सहन करने लगें और इसमें वे सफल भी हो जाते हैं। इस प्रकार उनके प्रेम में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्रेम का प्रादुर्भाव एक दूसरे के गुणों और अवगुणों को दृष्टि में रखते हुए होता है और यही कारण है कि ऐसे प्रेम की नींव भी दृढ़ होती है। इन्हीं कारणों से पाश्चात्य देशों के प्रेम विवाह बहुसंख्या में असफल सिद्ध होते हैं, परन्तु प्राच्य देशों में वे सफल सिद्ध होते हैं।

दो आत्माओं के सम्मिलन का ही नाम प्रेम है; और यही प्रेम विवाह का आधार भी है। और इसका उद्देश्य उस प्रेम को स्थायी बनाना है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार संसार चलाने और उसकी भलाई का एकमात्र साधन विवाह को ही माना गया है। यही कारण है कि स्त्री पहिले माता है; तब पत्नी। इससे आप समझ सकते हैं कि यह कितना पवित्र नाता है? परन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं; जिन्हें विवाह के पश्चात तुरन्त ही असफलता का सामना करना पड़ता है। विवाह उनके सुनहले स्वप्नों को सत्य नहीं कर पाता। उन्हें ऐसी निराशा होती है कि वे निरुत्साह हो जाते हैं और वृथा ही यह कहने लगते हैं कि उनका विवाह करना असफल रहा।

ये वे लोग हैं, जो पति-पत्नी के नाते को हीन दृष्टि से देखते हैं उनका विचार है कि स्त्री इसलिये उत्पन्न की गई है कि वह पुरुषों की पाशविक इच्छाओं क पूरी करे। विवाह इसलिये किया जाता है कि

पुरुष नियमों की आड़ में अपनी निम्न श्रेणी की पाशविक इच्छाओं का उदाहरण दे। स्त्री को अर्द्धांगि... बनने का अधिकार इसलिये दिया जाता है कि वह न केवल अपने शरीर को ही; वरन् अपने अधिकारों को भी पुरुष को सौंप दे। ऐसे पुरुष भोली-भाली बालिकाओं को नष्ट करने के लिए कैसे-कैसे जाल नहीं बिछाते। गार्हस्थ्य जीवन की शान्ति को नष्ट करने के लिये कैसे-कैसे छल नहीं करते। ये वे विषैले सर्प हैं जो भोली-भाली बे-जबान बालिकाओं को डस लेते हैं। उनकी पवित्रता को नष्ट कर देते हैं। पत्नी प्रति इस प्रकार का विचार रखने वाला व्यक्ति विवाह करने के योग्य कदापि नहीं है; क्योंकि वह स्वयं अपनी माताओं, बहनों तथा प्रत्येक सत्यवादी पुरुष का अपमान करता है। यहाँ तक कि सृष्टिकर्त्ता का भी अपमान करता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है।

विवाहित पुरुष सन्तानोत्पत्ति के विचार से ही सम्भोग करे, अन्यथा नहीं। वह यदि वैवाहिक नियमों का यथोचित पालन करे, तो सारी समस्यायें अपने आप हल हो जायेंगी। अविवाहितों को कुछ देर रुक कर व्याह करना चाहिये। यदि पच्चीस वर्ष तक कोई अखण्ड ब्रह्मचारी रहे, फिर सन्तानोत्पादन के निमित्त ही वीर्य-पात करे; तो वह संसार का सच्चा सुख शान्ति भोगी और सृष्टि-शिरोमणि बनेगा। अविवाहित नवयुवक और नवयुवतियों को सन्तति निग्रह के अप्राकृतिक पचड़ों में नहीं फँसना है। दूसरे प्रकार के अप्राकृतिक दुष्कर्मों का भी शिकार नहीं होना है। तात्पर्य यह कि पुरुष और स्त्री दोनों ही केवल सन्तानोत्पादन के निमित्त अपना ब्रह्मचर्य व्रत ग करें और नहीं तो कभी भी नहीं।

संयम और ब्रह्मचर्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम स्वस्थ वातावरण में रहें, स्वांस-प्रक्रिया के लिये वायु शुद्ध हो, स्वच्छ हो; अपने शरीर को दूसरों का कष्ट देने वाला नहीं बनाना चाहिए। मदिरा, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि का सेवन करके प्रकृति प्रदत्त

स्वच्छ और शुद्ध वायु को कभी भी दूषित नहीं बनाना चाहिए। बड़े तो बड़े ठहरे छोटे बच्चों तथा स्त्रियों में धूम्रपान का विषैला दुर्व्यसन घर कर गया है। सामाजिक-क्रम विशृंखल सा हो गया है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम स्वयं दूषित वायु में साँस लें और अपनी पत्नी को भी उसी में साँस लेने के लिए बाध्य करें। यदि हम ऐसा करते हैं; तो इससे बढ़ कर हमारा नैतिक पतन हो ही नहीं सकता। पान भी उन्हीं दुर्व्यसनों में से एक है। यह भी संयम में बाधक बनता है। हमें इस बात का भी अधिकार नहीं है कि हम अपने दूषित स्वभाव से अपनी 'जीवन-संगिनी' के जीवन को नष्ट करने का कारण बनें हम ऐसा करके बहुत बड़ी क्षति उठावेंगे, जिसका निवारण हम से न हो सकेगा।

इन्हीं कुटेवों के कारण मनुष्य शरीर के स्वास्थ्य में घुन सा लग गया है; तम्बाकू से दाँतों की प्राकृतिक चमक मिट जाती है। फेफड़ों में धुयें की एक काई जम जाती है। पान खाने से मुँह दूषित हो जाता है, क्षुधा जाती रहती है वस्त्र और गृह की दीवारें गन्दी हो जाती हैं। इन सब का दूषित और गन्दा प्रभाव उस संतति पर पड़ता है, जिसे हम जीवन देते हैं। मदिरा का सेवन तो सबसे बड़ा लज्जाजनक व्यवहार है। सरकारी विधान इन्हें नहीं बन्द कर सकते; जब तक कि लोगों की मनोवृत्तियाँ न बदलें।

यदि तुम यथार्थ में अपनी जीवन संगिनी प्रेम करते हो और अपने वैवाहिक जीवन को आनन्द-मय बनाना चाहते हो; तो तुम्हें विवाह के पवित्र बंधन का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए और उसके अधिकारों की रक्षा करते रहना चाहिए। यह एक ऐसा कर्त्तव्य है कि जिसका तुम पर भी उतना ही भार है, जितना कि तुम्हारी पत्नी पर; सच्चरित्रता और सतीत्व, दोनों का समान रूप में होना आवश्यक है। भगवान ने इस सम्बन्ध में पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं रखा है।

यदि स्त्री के लिए चरित्रहीन होना पाप और अपराध है, तो पुरुष के लिए भी वह पाप और अपराध ही समझा जावेगा।

नैतिक पतन के साथ-साथ इसमें स्वास्थ्य-सम्बन्धी भय भी बहुत है। यदि एक अविवाहित पुरुष चरित्र-हीन जीवन व्यतीत करता है; तो वह केवल अपने ही जीवन को नष्ट करता है क्योंकि इसके परिणाम केवल उसी तक सीमित रहते हैं, परन्तु एक विवाहित पुरुष स्वयं अपने को; अपनी जीवन-संगिनी को, अपने बच्चों को और अपनी भावी सन्तानों को विनाश की ओर ढकेलता है। ऐसी अनेक उदाहरण विद्य-मान हैं जहाँ पतियों की चरित्र-हीनता का फल उनकी भोली-भाली पत्नियों और सन्तानों आदि को सहन करना पड़ा। फलतः सारा कुटुम्ब चौपट हो गया।

गर्मी और सूजाक जैसे महान संक्रामक रोगों की उत्पत्ति भी इस प्रकार के कारणों का एक कुपरिणाम है। यह रोग वंश परम्परागत होकर एक प्रकार के कोढ़ जैसे हो जाते हैं। इतना ही नहीं मनुष्य को दानव बना देते और मानवता को लजाते तथा संसार में एक प्रकार की टीस और सिहरन पैदा करते हैं। समाज इन्हें देखकर क्रोध से दाँत पीसता रह जाता है।

यदि मनुष्य संयमी बन कर संसार का सच्चा सुख प्राप्त करना चाहता और अन्त में अपनी जीवन-लीला समाप्त करके अपनी आत्मा को परमात्मा को सौंपना चाहता है; तो इसे अपने उस 'प्रेम' के नाम पर जो उसे अपनी पत्नी से है; उस स्नेह के नाम पर जो उसे अपनी सन्तान से है, उस सम्मान के नाम पर जिसका उसे गर्व है; उस घर के नाम पर जिसे वह स्वर्ग-तुल्य बना सकता है, उस भावना के नाम पर जो विवाह के सम्बन्ध को पवित्र बनाये हुये हैं और उन सब बातों के नाम पर जो मनुष्य के जीवन को महान बनाए हुए हैं। हम आप से प्रार्थना करेंगे कि आप विवाह के समय किए गए वचों को—प्रतिज्ञाओं को—कभी भी न भूलें। मनुष्य का सच्चरित्र होना भी उतना ही आव-

श्यक है, जितना कि उसकी पत्नी का। मनुष्य को भी अपने चरित्र की उसी भाँति और उतनी ही रक्षा करनी चाहिए—जिस ढंग से और जितनी रक्षा अपने सतीत्व की एक स्त्री करती है।

अविवाहितों को भी अपना चरित्र महान बनाना चाहिए; उन्हें तो अपना जीवन इस प्रकार के साँचे में ढालना चाहिए कि पिछला विवाहित मनुष्य-समाज देख कर सोचे कि सम्भवतः यदि हमने भी ऐसा ही आचरण किया होता तो कितना अच्छा होता। भोगी-विलासी काम-वासना की तृप्ति हेतु अपना तन और मन दोनों चौपट कर देता और समाज तथा संसार दोनों के लिए वह भार बन जाता है। एक गन्दी मछली सारे तालाब के पानी को गन्दा करती है। एक दूषित प्रकृति का व्यक्ति सारे समाज को गन्दा और बदनाम करने वाला बना करता है। आज कल के अविवाहित नवयुवक प्रेम विवाह (लव मैरिज) में अधिकतर फँसते और अपने को संसार और समाज की रूढ़ियों का तोड़ने वाला घोषित करते हैं; किन्तु यह बात वास्तविकता से बिलकुल परे है। वह अपनी और समाज की रीढ़ भले ही तोड़ने वाले बनें यह हो सकता है। बुढ़ापा आने के पहिले ही वृद्ध बन जाना यह उन्हीं का काम है। यदि मनुष्य न सँभला; तो उसका कुपरिणाम उसे तो भोगना ही पड़ेगा। सारा समाज दुःखी होगा उसकी बदौलत। यह ध्रुवनिश्चित है।

सबसे बड़ी बात यह है कि "पुरुष-समाज और स्त्री-समुदाय दोनों की यह भावना होनी चाहिए कि स्त्री सर्वप्रथम माता है।—फिर इसके पश्चात् पत्नी।" यदि यही विचार सारे समाज में घर कर जायें और युवक-समाज व्यर्थ के नश्वर सौन्दर्य के खिलौने को हाथ न लगाये, काम-वासना में पड़ा कुत्तों की तरह दर-दर न भटके तो संयम की बहुतेरी बातें अपने आप साध्य हो जावें। 'भोग' केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही किया जावे। वीर्य-पात, स्त्री का रजस्राव व्यर्थ में न हो कर चिरस्थायी एकत्र होता जावे; तो यह स्वस्थ स्त्री-पुरुषों का समुदाय संसार को जैसा चाहे, सुयोग्य बना डाले। आज कल का दूषित वातावरण,

सिनेमा-संसार, बाल-विवाह, माता-पिता की असमय की संतान की चाह विद्यार्थी जीवन में कुसंगति से पुरुष गुदा-मैथुन, अप्राकृतिक हस्त-क्रिया से वीर्य-पात, आपस में ही 'लव' प्रेम करना ईश्वर और प्रकृति दोनों को लजाने वाले बन गए हैं। एक बालक-बालिका पर मुग्ध होता; दूसरा एक बालक-अबोध शिशु को अपनी काम-वासना की तृप्ति का साधन बनाता कितनी अनर्थकारी घटना है। पृथ्वी रसातल को क्यों नहीं चली जाती, मानवता रो पड़ती और सिसक-सिसक कर कराहती हुई कहती है भगवान हमें सद्बुद्धि दे; विवेक दे, विचार दे हम मानवता के पुजारी बनें, अपने पाशविक और दानवी कुकृत्यों को अब से ही छोड़ कर निरंतर भगवद्भक्ति की ओर अग्रसर हों। 'राम-नाम' स्मरण करते चलें। बस, इन्हीं बातों से मनुष्य मानव बन सकता है। पूज्य बापू के शब्दों में "ब्रह्मचर्य ही जीवन है और वीर्य-पात रज-स्राव ही मृत्यु है।" इस प्रकार जीवन एवं मृत्यु, संयम और भोग, सुख तथा दुःख स्वर्ग और नरक दोनों पहलू हमारे सामने हैं—यदि हमें परमात्मा की दी हुई थाती अमानत में खयानत नहीं करनी है, तो हमें पहला मार्ग अपनाना होगा और नहीं तो भोग का द्वार और नरक ललकार कर हमें बराबर आवाज करते रहेंगे। इसलिए हमें पूर्ण संयमी बन कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते जाना चाहिए। केवल सन्तानोत्पत्ति की अवस्था को छोड़ कर पुरुष को वीर्य-पात एवं स्त्री को रजस्राव कभी भूलकर स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। संयम बनाम भोग का यही निष्कर्ष है। भगवान हमें संयमी बनावे, ब्रह्मचारी बनावे, यही सदिच्छा है ॥

गांधी-वाणी

सत्य या ईश्वर

"सत्य के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है, और उसे मैं मूक जनता के हृदय में पाता हूँ। इसीसे मैं उसकी सेवा करता हूँ।"

उपवास और प्रार्थना

"उपवास और प्रार्थना से अधिक शक्ति और किसी चीज में नहीं है क्योंकि इनसे हमें आवश्यक संयम, अनुशासन, स्वार्थ-त्याग के भाव, नियम और सुदृढ़ इच्छा-शक्ति प्राप्त होती है, जिनके बिना किसी प्रकार की वास्तविक प्रगति सम्भव नहीं है।"

चरित्र

"हम वेदों के चाहे जितने बड़े पण्डित या पाठ करने वाले हों; और चाहे हमें संस्कृत, लैटिन, या ग्रीक का शुद्ध ज्ञान हो, लेकिन यह सब व्यर्थ हैं जब तक कि उनसे हमारे विचार पवित्र नहीं बनते।" सम्पूर्ण ज्ञान का लक्ष्य चरित्र-निर्माण होना चाहिए।

अनुशासन

"महान और स्थायी सफलता प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ अनुशासन नितान्त आवश्यक है। हमसे लोग यह न कह पावें कि हमारी जनता अनुशासन नहीं मानती; क्योंकि अनुशासनहीनता का अर्थ है 'विनाश'।"

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचर्य केवल शारीरिक नियंत्रण ही नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि सब इन्द्रियाँ पूर्णतया स्ववश हों और मनसा, वाचा, कर्मणा कोई पाप न होने पाए। इस रूप में वह एक राज-मार्ग है, जिसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार और ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

"आदर्श ब्रह्मचर्य को सम्भोग की कामना की तृप्ति के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता। इस प्रकार की इच्छा उसे कभी नहीं सताती। उसके लिए समस्त संसार एक वृहत परिवार होता है। उसकी सम्पूर्ण कामना मानव-जाति के दुःख-निवारण के लिए होती है और सम्भोग की कामना उसके लिए कटीली झाड़ी के समान है। जिसने मानवता की दुःखों की व्यापकता का अनुभव कर लिया, वह कभी काम से विचलित नहीं हो सकता। उसे अपने भीतर भरी हुई शक्ति का ज्ञान होगा, जिसको वह सदैव सुरक्षित रखेगा। उसकी विनय-पूर्ण शक्ति का संसार आदर करेगा और उसका प्रभाव किसी भी राजा के प्रभाव से महानतर होगा।"

एकता

"जो इस देश में पैदा हुए हैं और जो इसे संयम पूर्वक अपनी मातृ-भूमि समझते हैं चाहे वे हिन्दू हों; या मुसलमान; पारसी हों या ईसाई, और जैन हों अथवा सिख, सभी उसकी सन्तान हैं और इस नाते वे भाई-भाई हैं। यह सम्बन्ध सहोदर भ्राता के सम्बन्ध से भी सुदृढ़ है।"

हक या अधिकार

"जिसके पास कर्त्तव्य नहीं है, तो उसका अधिकार भी नहीं है। अर्थात् समस्त अधिकार अपने कर्त्तव्य से निकलते हैं। कर्त्तव्य नहीं, तो अधिकार नहीं, मैं कर्त्तव्य करता हूँ; तो उसका फल मिलता है, वही हक या अधिकार है। पूर्ण संयमी व्यक्ति ही इस प्रकार के अधिकार का अधिकारी है, भोगी व्यक्तियों से अधिकार कोसों दूर रहता है।"